सूर-मीमांसा

(संशोधित और परिवर्धित)

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, एम० ए०, डी० फ़िल्०
प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क, दिल्ली

मूल्य ४ रुपये ७५ नये पैसे

मुद्रक
द्वारका नाथ भार्गव,
भार्गव प्रेस, १ बाई का बाग
प्रयाग

विषय-सूची

प्रस्तावना

सूरदास का मेरा वैज्ञानिक अध्ययन, जो सन् १९४५ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल् उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया था, १९४६ में प्रकाशित हुआ। १९५० और फिर १९५९ में प्रकाशित उसके परिवर्धित और संशोधित संस्करणों में मैंने अपने अध्ययन को अधिक परिपूर्ण रूप देने का प्रयत्न किया। किन्तु 'सूरदास' का प्रणयन एक विशिष्ट दृष्टिकोण से हुआ है, उसमें ऐतिहासिक और तुलनात्मक समीक्षा को जान-बूझ कर स्थान नहीं दिया गया है।

यद्यपि सूरदास सहित समस्त कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य की ऐतिहासिक और तुलनात्मक समीक्षा मेरे एक बृहत् अध्ययन का अंग है, जिसमें मैं उसके उद्गम और विकास की विस्तृत विवेचना करना चाहता हूँ, फिर भी सूरदास के सर्वांगीण अध्ययन के उपरान्त मैं चाहता था कि अपने महाकवि को भारतीय इतिहास और हिन्दी साहित्य के विस्तीर्ण परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त स्थान पर प्रतिष्ठित करके पाठकों के सम्मुख रख सकूँ। 'सूर-मीमांसा' के इस सीमित आकार में मैंने यही करने का यत्न किया है।

'सूर-मीमांसा' की रचना एक भिन्न लक्ष्य से की गई है। इसका उद्देश्य सूरदास के सभी श्रेणियों के पाठक और विद्यार्थियों के समक्ष महान् भक्त कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा उसकी महत्ता को यथार्थ रूप में प्रकाशित करना है। सूरदास की जीवनी, भक्ति-भावना

और काव्य-प्रतिभा के संबंध में अपने निष्कर्षों के कारण और आधार यद्यपि मैंने 'सूर-मीमांसा' में भी यथासंभव विस्तार से दिए हैं, किन्तु उनके सम्पूर्ण परिचय और परीक्षण के इच्छुक पाठकों को मेरे 'सूरदास' का अवलोकन आवश्यक होगा। किंतु मेरा विश्वास है कि 'सूर-मीमांसा' की शैली अपेक्षाकृत अधिक सरल, सुगम और यथा-साध्य रोचक तथा इसका आकार लघु होने के कारण यह साधारण पाठकों के लिए भी अधिक सुलभ और उपयोगी सिद्ध होगी।

सूरदास की जीवनी के सम्बन्ध में अनेक भ्रम और प्रवाद प्रच-लित रहे हैं। यद्यपि अब तक इस संबंध में निर्विवाद और प्रामाणिक निर्णय के रूप में कुछ कह सकना संभव नहीं है, फिर भी 'सूर-मीमांसा' तटस्थ और निष्पक्ष निर्णय की ओर पाठकों का पथ-प्रदर्शन अवश्य कर सकेगी। किंतु सूरदास की जीवनी के संबंध में प्रचलित किंवदंतियाँ वस्तुतः उनकी महत्ता की ही द्योतक हैं और उनके पीछे भक्त-कवि के प्रति लोक-मत की एक गंभीर भक्ति-भावना देखी जा सकती है। अतः सूरदास के व्यक्तित्व को समझने में उनके कारण विशेष कठिनाई नहीं

इधर आधुनिक काल में कुछ साहित्यिक सिद्धांत प्रतिपादित हुए थे जिनके कारण सूरदास की महत्ता के वास्तविक मूल्यांकन में बाधा पड़ी है। प्रायः उन्हें लोक-कल्याण के प्रति उदासीन ही नहीं, नैति-कता तक की उपेक्षा करने वाला कहा गया था। किंतु यह एक विलक्षण बात है कि उनके काव्य को धार्मिक काव्य मानने में किसी ने आपत्ति नहीं की। सूर संबंधी इन परस्पर विरुद्ध धारणाओं का

उचित समाधान आवश्यक है। 'सूर-मीमांसा' के पाठक देखेंगे कि सूर की काव्य-रचना व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी सदैव समाज को लक्ष्य में रखती है। सूर का काव्य तत्कालीन समाज की श्रेष्ठ भावना और व्यापक विश्वास की ही भव्य और उत्तम अभिव्यक्ति है। शताब्दियों से सामाजिक मन उसमें अपनी ही सुन्दरतम भावनाओं का प्रतिबिंब देखता आया है। आज भी उनके पद कोटि-कोटि जनता को रस और सौंदर्य के माध्यम से जो आनंद प्रदान करते हैं वह लोकोत्तर और अतीन्द्रिय है। फिर उनमें सामाजिक उदासीनता कैसी? सूरदास की भक्ति ऐकांतिक होते हुए भी महान् सामाजिक शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी जिसने समाज को एक नवीन नैतिकता से अनुप्राणित किया था।

सूरदास ने, प्रायः कहा जाता है, कोई महान् प्रबंध-काव्य नहीं रचा, अतः उनकी काव्यगत महत्ता भी महाकाव्य रचने वाले कवियों की अपेक्षा कम है। किंतु वास्तव में सूर की गणना उन महान् गीतिकारों में है जिनके काव्य में नाटकत्व और महाकाव्यत्व के श्रेष्ठ गुण अनायास आ जाते हैं, जो उपदेशों और आदर्श चित्रणों द्वारा ही नहीं, अपितु स्वर, ताल और लय की अनेक संगतियों के साथ गा कर सूक्ष्म संकेतों अथवा गंभीर मनोवेगों के चित्रण द्वारा हृदय की सुप्त भावनाओं, विस्मृत संस्कारों और उदात्त कल्पनाओं को जगा कर गतिमान कर सकते हैं, जो भाव-संवलित विचारों को उत्तेजित करके उन्हें किसी महान् उद्देश्य में नियोजित कर सकते हैं तथा जो पाठक के सम्मुख रूप और रंग की अनंत सौंदर्य-राशि बिखेर कर उसे

लोकोत्तर आनंद की अनुभूति दे सकते हैं।

'सूर-मीमांसा' यदि पाठकों को महाकवि सूरदास के इस महान् व्यक्तित्व को समझने में सहायक हो सकी तो मैं अपने इस प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

'सूर-मीमांसा' सर्वप्रथम अक्टूबर १९५२ में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद उसके दो पुनर्मुद्रण हुए। अब यह नवीन संशोधित और किंचित् परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि इधर सूरदास का अध्ययन अधिक लोकप्रिय हुआ है और उनके संबंध में प्रचलित अनेक मिथ्या पूर्वाग्रह दूर हो रहे हैं। मुझे आशा है 'सूर-मीमांसा' का यह संस्करण सूरदास के विद्यार्थियों के लिए अधिक उपादेय होगा।

'सूर-मीमांसा' में निर्दिष्ट पद-संख्या 'सूरसागर' (नागरी प्रचारिणी सभा) के अनुसार है।

हिंदी विभाग,
विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद
२-३-६१

ब्रजेश्वर वर्मा

सूर-मीमांसा

१

सामयिक परिस्थिति

हिन्दी साहित्य के इतिहास का सन् १४०० ई० से १६०० ई० तक का समय 'भक्तिकाल' के नाम से विख्यात है। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी इन दो सौ वर्षों के काल को यही नाम दिया जाएगा। साहित्य और समाज का ऐसा घनिष्ठ, यथार्थ और आदर्श सम्बन्ध शायद ही पहले कभी देखा गया हो। इस काल के कबीर, सूर, मीरां, तुलसी, सभी महान् कवि उस व्यापक सामाजिक चेतना के संदेशवाहक हैं जिसने तत्कालीन जन-जीवन को गहराई से आंदोलित कर दिया था। वस्तुतः ये कवि सच्चे अर्थ में युग के प्रतिनिधि ही नहीं, युग के निर्माता थे, अतः उनका काव्य जातीय काव्य है और उसके अध्ययन के लिये तत्कालीन समाज की समीक्षा आवश्यक है।

मध्ययुग के साहित्य और संस्कृति की समीक्षा करने में स्वभावतः हमारा ध्यान सबसे पहले उस राजनीतिक घटना की ओर जाता है जिसने हमारे जातीय जीवन का पिछले एक हज़ार वर्षों में सबसे अधिक प्रभावित किया और आज तक उसके परिणामों का अंत नहीं आया है। हर्षवर्धन

राजनीतिक

की मृत्यु (सन् ६४७ ई०) के बाद से ही उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था विशृंखल हो गई थी। छोटे छोटे राज्यों पर शासन करने वाले राजपूत राजा अपना अपना प्रभुत्व बढ़ाने, झूठी मान-मर्यादा की रक्षा करने अथवा इंद्रिय-लोलुपता के वशीभूत हो कर परस्पर युद्ध करने में ही अपने क्षात्र-धर्म की इति-श्री समझते थे। उन्होंने महमूद ग़ज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी का दृढ़ता के साथ संगठित हो कर बहुत कम सामना किया। उनकी दृष्टि इतनी सीमित थी कि वे इन आक्रमणों के भावी परिणामों की कल्पना ही नहीं कर सके। मुहम्मद ग़ोरी ने अपनी पराजयों के बाद जब सन् ११·३ ई० में पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली में मुसलिम शासन का केन्द्र स्थापित कर लिया, संभवतः तब भी राजपूत राजा भावी संकट का अनुमान नहीं कर सके। दूसरे ही वर्ष सन् ११९४ ई० में उत्तर भारत के सब से प्रसिद्ध और संभवतः सब से अधिक प्रभावशाली शासक जयचंद भी पराजित हुए। मुसलमानों ने भारतीय संस्कृति के केन्द्र गंगा-यमुना के प्रदेश पर अधिकार करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इतना विध्वंस किया कि उसे पूर्णतया जानने के साधन भी उपलब्ध नहीं रहे। पृथ्वीराज और जयचन्द की पराजयों ने राजपूत राजाओं को बहुत-कुछ हताश कर दिया। कोई राजा ऐसा न निकला जो मुसलमानों की विध्वंसक विजय-वाहिनी का दृढ़ता से सामना करता। सन् ११९१ ई० में इख़्तियारउद्दीन मुहम्मद-बिन-बख़्तियार ख़िलजी ने बिहार पर चढ़ाई करके वहाँ के बौद्ध विहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया और बंगाल तक मुसलिम राज्य का झंडा फहरा दिया। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी का अंत होते होते हिन्दुओं

की राजनीतिक सत्ता भंग हो गई और एक ऐसा कठोर सैनिक शासन प्रारंभ हो गया जिसका काम जनता से कर उगाहने, धार्मिक-आर्थिक अत्याचार करने और अपनी शक्ति दृढ़ करके राज्य विस्तार करने के अतिरिक्त और कुछ न था। गुलाम (१२०६-१२६० ई०), खिलजी (१२६०-१३२० ई०), तुग़लक (१३२०-१४१२ ई०) तथा सैयद और लोदी (१४१४-१५२६ ई०) वंश के सुलतानों के राज्यकाल में प्रायः ३०० वर्ष तक यही परिस्थिति बनी रही।

हमारी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार राजनीति केवल क्षत्रियों का धर्म था, किन्तु प्राचीन गणराज्यों के स्थान पर साम्राज्यों की स्थापना ने क्षात्र-धर्म केवल उन क्षत्रियों में सीमित कर दिया था जिनके हाथ में राजदंड था। राजपूती सामंतवाद के अन्तर्गत केन्द्रीय शक्ति की स्थापना भी दुर्लभ हो गई थी। विकृत वर्ण-व्यवस्था, साम्राज्यवाद और सामंतवाद के सम्मिलित कारणों के फलस्वरूप विशाल जन-समूह राजनीति से इतना उदास हो गया था कि ऐसी भयंकर राजनीतिक घटना से भी उसे संगठित हो कर विरोध करने की उत्तेजना नहीं मिली। शक, हूण आदि बर्बर जातियों के आक्रमणों के समय भी जनता ने इसी प्रकार चुपचाप भयंकर अनाचारों को सहा था, किन्तु उस समय उसे शक्तिशाली सम्राटों का संरक्षण प्राप्त था। राजा, राज-कर्मचारी अथवा आक्रमणकारियों के अत्यचारों को जनता उसी प्रकार की दैवी विपत्ति समझ कर सहती थी, जिस प्रकार अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप आदि को। राजनीतिक चेतना का उसमें इतना अभाव हो गया था कि उसका असंतोष कभी व्यापक रूप में प्रकट ही नहीं हो सका।

सामूहिक इच्छा और प्रयत्न का कोई लक्षण शेष नहीं था। यही कारण है कि वह राजपूत राजाओं के पराभव, धार्मिक स्थानों के विध्वंस तथा नाना प्रकार की शारीरिक, आर्थिक और नैतिक यातनाओं को प्रायः मूक बनी सहती रही। अब तक राजाओं के साथ उसकी स्वधर्म की आत्मीयता थी, अब उसके स्थान पर कट्टर मुल्लाओं के उकसाए हुए विधर्मी शासकों और राज-कर्मचारियों के धर्मान्धता-पूर्ण अत्याचार सहने पड़ रहे थे। किन्तु उसकी चेतना शून्यवत् हो गई थी। क्रियाशील होने के लिये और किसी नवीन प्रेरणा की आवश्यकता थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य (सन् १४७०-१५३५ ई०) ने अपने 'कृष्णाश्रय' में इसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है : 'म्लेच्छों से आक्रांत देश पाप का आगार हो गया है, सत्पुरुष पीड़ित हैं, गंगा आदि सभी उत्तम तीर्थ दुष्टों से आवृत हैं, जिससे इन अधिदैविक तीर्थों का महत्त्व तिरोहित हो गया है। ऐसी दशा में केवल कृष्ण ही मेरी गति हैं।'

सन् १५२६ ई० में बाबर की भारत-विजय के बाद इस अवस्था में किंचित् परिवर्तन होने का सूत्रपात हुआ। बाबर उस शासन की नींव डालना चाहते थे जिसका लक्ष्य मुसलमानों के धार्मिक नेता खलीफ़ा के प्रभुत्व को सर्वथा अस्वीकार करके पूर्ण प्रभु-सत्ता-सम्पन्न साम्राज्य की तथा सैनिक शासन के स्थान पर सभ्य प्रशासन-व्यवस्था की स्थापना करना हो। इस नवीन राज्य-व्यवस्था की वास्तविक नींव तो सन् १५५६ ई० में पड़ सकी, किन्तु उसका पूर्वरूप १५३९ से १५५५ ई० के मध्यवर्ती सूर वंश के शासन-काल में स्थापित हो चुका था। सम्राट् अकबर

(१५५६-१६०५ ई०) ने मुसलमानी शासन का स्वरूप ही बदल दिया। विश्वव्यापी धर्मान्धता के उस युग में भी उन्होंने ऐसी नीति अपनाई जिसे संप्रदायहीन राष्ट्रीय नीति कहा जा सकता है। उन्होंने शासन में हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करके धार्मिक कर (जज़िया), तीर्थ कर तथा दूसरे धार्मिक पक्षपातपूर्ण करों को माफ़ करके तथा सभी धर्मों के प्रति उदार नीति अपना कर अपनी समूची प्रजा की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अकबर के समय तक वैष्णव भक्ति आंदोलन को पर्याप्त शक्ति और संगठन प्राप्त हो चुका था। मथुरा में अनेक संप्रदायों के केन्द्र और मंदिर स्थापित हो गए थे। अकबर ने उन्हें संरक्षण दिया और आर्थिक सहायताएँ दीं। पुष्टिमार्ग के गुसाईं विट्ठलनाथ के नाम अकबर के दिए हुए कई आज्ञा-पत्र (फ़रमान) मिलते हैं। सन् १५८१ ई० के फ़रमान के अनुसार गुसाईं विट्ठलनाथ को स्वतंत्रता के साथ गायें चराने तथा निर्भय हो कर गोकुल में रहने को आज्ञा दी गई थी, तथा खालसा, जागीरदार आदि को किसी प्रकार की रोक-टोक करने और कष्ट देने का निषेध किया गया था। सन् १५९४ ई० के एक फ़रमान में मथुरा, सहारा, मिंगोथ और टोड के परगनों में तथा उनके आस-पास मोरों को ज़िब्ह करने, शिकार करने और लोगों की गायों को चरने से रोकने का निषेध किया गया था। उसी वर्ष के एक अन्य फ़रमान के अनुसार गोकुल का मौज़ा जहाँ गुसाईं विट्ठलनाथ ने मकान, बाग़, गायों के गोठ तथा गोवर्धननाथ के मन्दिर आदि बनवाए थे, गुसाईं जी के अधिकार में 'नसलन-दर-नसलन' माफ़ और बागुज़ाश्त छोड़ा गया था। अकबर सभी धर्मों की सद्भावना प्राप्त

करना चाहते थे। सन् १५७५ ई० में उन्होंने फ़तहपुर सीकरी में पूजा-गृह (इबादतखाना) बनवाया था, जिसमें विभिन्न धर्मों के विद्वान् मिल कर धार्मिक विषयों पर विचार-विनिमय करते थे। 'दीन ईलाही' (ईश्वरीय धर्म) के नाम से उन्होंने एक मिला-जुला धर्म चलाने की भी चेष्टा की थी, साधु-संतों और गुणवानों से मिलने को भी वे सदैव उत्सुक रहते थे। सूरदास से उनके भेंट करने का उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में हुआ है। अष्टछाप के अन्य भक्त कवियों की ख्याति से भी वे प्रभावित हुए थे। कुम्भनदास को उन्होंने स्वयं फ़तहपुर सीकरी बुलाया था। इस प्रकार अकबर के शासन-काल में प्रजा को अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा प्राप्त हुई, उसकी आर्थिक अवस्था में सुधार हुआ, उसे धार्मिक स्वतंत्रता मिली तथा साथ ही, संगीत, साहित्य और कलाओं को भी प्रोत्साहन मिला। हिन्दी का अधिकांश वैष्णव साहित्य अकबर के ही राज्य-काल में रचा गया। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि इस साहित्य को सम्राट् का संरक्षण कभी नहीं मिला। सूरदास और कुम्भनदास की वार्ताओं में उपरिनिर्दिष्ट उल्लेखों से विदित होता है कि अकबर ने प्रायः इन कवियों को अपनाने का प्रत्यन किया, किन्तु भक्त कवियों ने सम्राट् के वैभव का सदैव तिरस्कार किया। कदाचित् यही कारण है कि अकबर अथवा उनके उत्तराधिकारियों के इतिहासकारों ने इन भक्त कवियों, का नामोल्लेख तक नहीं किया है। सूर और तुलसी जैसे महान् भक्त कवियों के प्रति मुग़ल इतिहासकार की यह उपेक्षा घोर आश्चर्य का विषय है। परन्तु सम्राटों द्वारा उपेक्षित होते हुए भी इन कवियों को उन लीला-पुरुष श्रीकृष्ण की असीम

कृपा प्राप्त थी जिनकी मधुर मूर्ति ने जन-जन के हृदय को आंदोलित कर दिया था। अतः वे, महाप्रभु वल्लभ के कथनानुसार, पूर्णतया 'कृष्णाश्रित' थे। आधुनिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि ये कवि सर्वथा जनाश्रित थे, क्योंकि जनता की भावना ने ही उन्हें प्रेरणा दी थी और जनता को ही प्रभावित करना उनका लक्ष्य था। अतः प्रस्तुत विषय के लिये राजनीतिक परिस्थिति से अधिक सामाजिक परिस्थिति को समझना आवश्यक है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सूरदास के जीवन का अधिकांश समय अकबर के शासन के पहले ही बीता था। केवल उनके अन्तिम कुछ वर्षों में अकबर के राज्य की सुव्यवस्था स्थापित होने लगी थी।

सामाजिक

हिन्दुओं के राजनीतिक पराभव का बहुत कुछ उत्तरदायित्व उनकी सामाजिक दुरवस्था पर है। कालांतर से हिन्दू समाज बहु जाति, बहु धर्म-सम्प्रदाय और बहु वर्गों के रूप में विशृंखल होता आया था। हिन्दू सत्ता के विनाश, धर्म-मंदिरों के विध्वंस, तीर्थों की दुर्व्यवस्था और पतन, शासकों द्वारा धर्म के तिरस्कार और अपमान के कारण उसमें नैराश्य के साथ-साथ कुछ न कुछ नैतिक पतन भी अवश्य आया, और भय, प्रलोभन और अत्याचार के फलस्वरूप कुछ व्यक्तियों और जातियों को धर्म-परिवर्तन भी करना पड़ा, और यह क्रम लगभग पूरे मुसलिम शासन-काल में जारी रहा। किन्तु लगभग पाँच-छः सौ वर्षों के लम्बे काल में जितनी संख्या में धर्म-परिवर्तन हुआ वह वस्तुतः कम मालूम होता है और इसका बहुत बड़ा कारण वैष्णव भक्ति का देशव्यापी आंदोलन था

जिसने जनता को जीवन के लिये एक सार्थक उद्देश्य प्रदान किया था। परन्तु यह तो परोक्ष रूप और अज्ञात ढंग से हुआ। नैतिक पतन से आत्म-रक्षा के लिये हिन्दुओं ने कुछ तात्कालिक और व्यावहारिक उपाय भी किए थे। वस्तुतः ये उपाय उन्हें स्वभावतः ही सूझ गए क्योंकि वे उनकी परम्परागत प्रवृत्ति के अनुकूल थे। इन उपायों को हम 'असहयोग' का नाम दे सकते हैं। किन्तु यह असहयोग नीति तिरस्कार और घृणा पर आधारित थी। शासक होते हुए भी मुसलमानों को म्लेच्छ कह कर अस्पृश्य घोषित किया गया था। वस्तुतः इस नीति का बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व स्वयं मुसलमानों की उस मनोवृत्ति पर है जिसके अनुसार वे अपने को ही धार्मिक और विश्वासी समझ कर अन्य धर्मावलंबियों को अधर्मी और अविश्वासी कहते थे तथा उस समय तक उनसे नहीं मिल सकते थे जब तक कि वे मुसलमान न हो जाएँ। उन्होंने ही भारत के निवासियों को, जो विविध धर्म-मतों के अनुयायी और विविध जातियों में संगठित थे, एक व्यापक 'हिन्दू' नाम दिया और उसका अर्थ लगभग उसी प्रकार का किया जिस प्रकार का 'म्लेच्छ' का अर्थ किया गया था। हिन्दुओं ने मुसलमानों की अलग रहने की मनोवृत्ति को इस सीमा तक अपनाया कि उनके समाज में कोई सम्मिलित ही नहीं हो सकता था। जो एक बार किसी कारण, अनजान में, भय अथवा प्रलोभ या भूल से, बाहर निकल गया वह कभी वापस नहीं लिया जा सकता था। आत्म-रक्षा के इन संकोचनशील उपायों के फलस्वरूप स्वयं हिन्दुओं की बहु-जातिगत विशृंखलता तथा उसके छुआछूत, खान-पान, शादी-विवाह संबंधी नियमों की कठोरता और भी अधिक बढ़ गई।

जातिगत ऊँच-नीच की भावना तथा छुआछूत के घृणामूलक व्यवहार के अतिरिक्त कुछ अन्य कुप्रथाएँ भी समाज को जर्जर कर रही थीं। बाल-विवाह, विधवाओं की वृद्धि और सती-प्रथा से समाज में स्त्रियों की हीनता की सूचना मिलती है। स्त्रियों की पराधीनता हिन्दू समाज में पहले से ही बढ़ती आ रही थी। इस समय की राजनीतिक अव्यवस्था, धार्मिक अत्याचार तथा मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव ने उसे और भी बढ़ा दिया। उच्च और मध्य वर्ग में पर्दे की कुप्रथा प्रचलित हो गई और स्त्री घर के घरौंदे में बंदी हो गई। मुसलमानों में नारी केवल भोग की वस्तु थी, उसका दर्जा निश्चित रूप में पुरुष से नीचा था। हिन्दुओं पर इसका भी प्रभाव पड़ा। नारी की हीनता की पराकाष्ठा इस बात से सूचित होती है कि मध्ययुग के सभी संतों और महात्माओं ने नारी को भोग की वस्तु समझ कर उसकी भरपूर निंदा की है और पुरुष को उससे दूर रहने का उपदेश दिया है। धर्म-कर्म पर एक प्रकार से पुरुषों का एकाधिकार हो गया।

किंतु, नारी-निंदा वस्तुतः इस युग की एक व्यापक विचारधारा—वैराग्य-भावना—का एक अंग मात्र थी। उसका दूसरा अंग धन-वैभव के प्रति उपेक्षा और त्याग का भाव था। कामिनी और कांचन के प्रलोभनों से सावधान रहने का भाव व्यापक रूप में प्रचलित हो गया था। वस्तुतः मनुष्य का सांसारिक जीवन अत्यन्त उद्देश्यहीन और निरर्थक हो रहा था, व्यापक सामाजिक जीवन का सर्वथा अभाव हो गया था, धर्म-कर्म संकुचित हो गया था। दीर्घ काल से जैन-बौद्धों के श्रमण-भिक्षु जीवन, अनीश्वरवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद और नियतिवाद

तथा शंकराचार्य के मायावाद के प्रभाव के कारण वैराग्य और असार संसार के त्याग का आदर्श ही सब से ऊँचा आदर्श समझा जाता था। मुसलमानी आक्रमण, कुशासन, दुर्व्यवस्था, अशांति और अत्याचारों के कारण पैदा हुई अरक्षा की भावना ने इस विचार को और अधिक प्रबल बना दिया। मुसलमानों के निषेधपूर्ण मज़हब ने भी इस वैराग्य भावना को प्रोत्साहित किया। फलतः, मनुष्य अधिकाधिक व्यक्तिवादी होता गया और उसके धर्माचरण का अर्थ बहुत संकुचित हो गया।

व्यक्तिगत आचरण में मध्ययुग का मनुष्य सदाचार, उदारता, निश्छलता और सहृदयता का व्यवहार अपने धर्म का अंग समझता था, तथा सत्यवादिता, अहिंसा, प्रतिज्ञापालन, शरणागत-वत्सलता, क्षमाशीलता आदि उच्च नैतिक आदर्शों को बड़ी निष्ठा के साथ अपने आचरण में परिणत करने का प्रयत्न करता था। किंतु ये नैतिक आदर्श केवल व्यक्तिगत चरित्र के अंग होने के कारण प्रायः ऐसी अति सीमा पर पहुँच जाते थे कि जिनसे कभी-कभी भारी सामाजिक हानि हो जाती थी। हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमें उपर्युक्त गुणों के विवेकहीन अत्याचरण अथवा अनवसर आचरण के कारण समाज की अपार हानि हुई है। किन्तु साधारण जन-समाज में व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता, पवित्रता और धर्मभीरुता के भाव इतने बद्धमूल थे कि इस सामाजिक हानि की ओर उनका ध्यान ही न जाता था। धर्म का सामाजिक रूप जन-शिक्षा का सबसे प्रबल माध्यम रहा था। सामाजिक

दुर्व्यवस्था के कारण न केवल वह साधन नष्टप्राय हो गया, वरन् शिक्षा की अ- स्थाएँ भी बहुत कुछ समाप्त हो गईं। समाज के निम्न वर्ग तो न जाने कब से शिक्षा से वंचित थे, राजनीतिक उथल-पुथल के कारण तथा सहायता और संरक्षा के अभाव में उच्च और मध्य वर्गों के लिये भी शिक्षा की संस्थाएँ दुर्लभ हो गईं। फलतः, समाज की सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति में भारी बाधा उपस्थित हो गई तथा बुद्धि और विचार की ओर से व्यापक शिथिलता आ गई। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय' में कहा है : 'अशिक्षा और अज्ञान के कारण मंत्र, व्रत, योग नष्ट हो गए हैं तथा वेदों का अर्थ लुप्त हो गया है।' किन्तु ऐसे व्यक्तिवादी और उत्तरोत्तर अशिक्षा और अज्ञान से आच्छादित होते हुए समाज में भी ग्रामीण और जातीय पंचायतों के रूप में घरेलू ढंग की सामाजिकता विद्यमान थी और उसका संगठन इतना परिपूर्ण और स्वावलम्बी था कि उसके भीतर रहता हुआ व्यक्ति समूचे समाज और राजनीतिक शासन की ओर से पूर्ण उदासीन बना रह सकता था। वस्तुतः भारतीय समाज की अनेक शक्तिशाली परम्पराएँ पंचायतों के रूप में आधुनिक काल के आरंभ तक सुरक्षित रही हैं और अनेकानेक विप्लवों, उपद्रवों और क्रांतियों में पंचायतों की दृढ़ व्यवस्था ने ही व्यक्ति को विकास करने का अवसर दिया है।

मध्ययुग के इसी समाज में भक्ति आन्दोलन का विकास हुआ, जिसने उसके अनेक दोषों और दुर्बलताओं को अपने ढंग से सुधारने और दूर करने के उपाय किए। किन्तु भक्ति आन्दो-

धार्मिक लन के विकास को समझने के लिये उससे पूर्व की धार्मिक परिस्थिति को जानना भी आवश्यक है। वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार के पहले उत्तर भारत में शैव और शाक्त मतों की अपेक्षाकृत अधिक प्रबलता थी। यद्यपि वैष्णव धर्म वासुदेव-भक्ति के रूप में गुप्त काल में ही संगठित हो चुका था और रामायण, महाभारत तथा अनेक पुराणों को वैष्णव रूप दिया जा चुका था, फिर भी उसे गति देने वाली शक्तियों का इससे पहले उदय नहीं हो सका। गुप्त काल के बाद शाक्त और शैव मतों का बोलबाला हुआ और लगभग ६०० ई० से १२०० ई० तक तांत्रिक विचारधारा प्रबल रही। इस काल में बौद्ध धम अत्यन्त क्षीण हो गया था, उसके परिवर्तित रूप महायान, मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान की क्रमागत परंपरा में आया हुआ सिद्ध संप्रदाय और तदंनतर नाथ संप्रदाय अवश्य लोकप्रिय बनने का प्रयत्न कर रहा था। जैन धर्म केवल पश्चिमी भारत में शेष रह गया था और वैष्णव धर्म एक प्रकार से दब सा गया था। यद्यपि तांत्रिक विचारावली शैव, शाक्त और बौद्ध धर्म के उपर्युक्त मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और सिद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्गत विकसित हुई, किंतु उसने अन्य मतों को भी प्रभावित किए बिना न छोड़ा। स्वयं वैष्णव धर्म में अनेक तांत्रिक प्रभाव देखे जा सकते हैं और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वैष्णव धर्म को तांत्रिक विचारधारा के साथ ही संघर्ष करना था। लौकिक और अलौकिक शक्तियों की सिद्धि तांत्रिक विचारधारा का लक्ष्य है और इस साधना में अनेक प्रकार की गुह्य क्रियाएँ सम्मिलित हैं। तांत्रिकों की योग-साधना तथा उनके यम-नियम

की पद्धति निराली है। उनकी साधना प्रायः गुह्य और गोप्य है तथा साधारण सदाचार के एकदम विपरीत जान पड़ती है। इसीलिये उसे वाममार्ग कहा जाता है। मदिरा, मीन, मांस, मैथुन और मुद्रा—ये 'पंच मकार' उसके अंग हैं। किंतु, जहाँ एक ओर तांत्रिक विचारों की लोकप्रियता थी, वहाँ दूसरी ओर ठीक उसके विपरीत शिक्षित समाजों में शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद की धाक थी। तंत्र में यदि घोर भोगवाद की अति थी तो मायावाद ने वैराग्यवाद को अति सीमा पर पहुँचा दिया था। बौद्धों के भिक्षु-संघ के अनुकरण में शंकराचार्य ने विरक्तों के दल के दल पैदा कर दिए थे, जिनमें अनधिकारियों की संख्या ही अधिक होने लगी थी। गेरुआ वस्त्र धारण करके 'अहं ब्रह्मास्मि' का मंत्रोच्चारण करना फ़ैशन बन गया था। जिस प्रकार उच्च वर्ग के लोगों के लिये स्मार्त सन्यास श्रेष्ठ धर्मात्मा बनने का साधन था, उसी प्रकार निम्न वर्ग के लोग सिद्ध, अवधूत और योगी बन कर 'अहं ब्रह्मास्मि' की तरह 'अलख' जगाते फिरते थे। वज्रयानी सिद्धों के सम्प्रदाय से नाथ पंथ के योगियों का मार्ग विकसित हुआ, जिन्होंने वज्रयानी वामाचार को छोड़ कर सिद्धों की बहुत सी बातों को ग्रहण किया। एक प्रकार से नाथ पंथ वज्रयानी संप्रदाय का सुधरा हुआ रूप था और हम देखते हैं कि मध्ययुग के आरंभ होते होते धार्मिक क्षेत्र में सुधारवाद की मनोवृत्ति मूर्त रूप ग्रहण करने लगी थी।

किंतु इसी समय मुसलिम धर्म और संस्कृति ने भारतमें प्रवेश किया। यह नया धर्म धन-लोलुप महत्त्वाकांक्षी शासकों और धर्मान्ध मुल्लाओं का अस्त्र बन कर आया था। विजय के उन्माद में उसने भारतीय धर्म

और समाज को हेय दृष्टि से देखा। परन्तु शासकों और मुल्लाओं के अतिरिक्त मुसलमानों में कुछ विचारशील, उदारमना और साधु व्यक्ति भी थे, जो बहुधा सूफ़ी विचार के थे, और भारतीय अद्वैतवाद एवं सर्वेश्वरवाद को समझने की योग्यता रखते थे। उनके प्रचार के फल-स्वरूप कुछ लोग इसलाम की ओर आकर्षित भी हुए होंगे, किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं हो सकती, क्योंकि उनके पास कम से कम हिन्दुओं के लिये कोई विशेष आकर्षण नहीं था। उनके प्रचार का एक भला परिणाम यह अवश्य हुआ कि दो विरोधी धर्मों ने एक दूसरे को समझना प्रारंभ किया। हिन्दुओं में उदार समन्वयशील वैष्णव भक्ति का प्रचार हो ही रहा था। दोनों पक्षों की सामंजस्य बुद्धि का परिणाम पंद्रहवीं शताब्दी के कबीर द्वारा प्रतिपादित सन्त मत के रूप में प्रकट हुआ। वस्तुतः कबीर ने किसी विशेष मत का प्रतिपादिन नहीं किया। उनका उद्योग धर्म और समाज के क्षेत्रों में क्रांतिकारी सुधार करना मात्र था और उनके लक्ष्य हिन्दू और मुसलमान, दोनों धर्मों के अनुयायी थे। किन्तु कबीर स्वयं सुशिक्षित और अभिजात वर्ग के नहीं थे, अतः उनका प्रभाव भी प्रायः अशिक्षित और निम्न वर्गों तक सीमित रहा। साथ ही, निरकार ब्रह्म की दुरूह कल्पना तथा उसकी प्राप्ति के साधनों में हठयोग, सहज समाधि, रहस्यात्मक भक्ति जैसे व्यक्तिगत साधना पर आधारित विधानों के कारण संत मत में भी अहंकार, गुरुडम तथा नये प्रकार के पाखंड और आडंबर की वृद्धि हो गई। यद्यपि तांत्रिकों की व्यभिचारलीला का संत मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, फिर भी चमत्कारों और सिद्धियों का महत्त्व उसमें भी कम नहीं था। फलतः, दंभ

और मिथ्यावाद को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक था। सूरदास ने अपने विनय के पदों में तथा अन्यत्र तत्कालीन जीवन की उद्देश्यहीनता के अनेक उल्लेख किए हैं। उन्होंने अपने ढंग से बताया है कि शैव, शाक्त, गोरखपंथी, हठयोगी तथा अद्वैतवादी-मायावादी पाखंडी किस प्रकार अनाचार, ढोंग और दंभ फैला रहे थे। सूरदास के समकालीन परमानन्ददास ने भी कहा है कि उस समय औघड़ पंथ का ऐसा ज़ोर था कि बारह वर्ष की अवस्था में ही लोग दिगंबर हो कर संन्यास ले लेते थे और ज्ञानहीन होते हुए भी ज्ञान की बातें करते थे तथा भस्म लगाकर, उदासी बन कर घर-घर भोजन करते फिरते थे। पाखंड और दंभ बढ़ गया था, श्रद्धा और धर्म का लोप हो गया था, यहाँ तक कि वेदपाठी ब्राह्मण भी कर्तव्यच्युत हो गए थे। अंधकार के इस युग में जब ज्ञान और कर्म का मार्ग अत्यन्य दुर्लभ हो गया था तथा परस्पर विरोधी विचारों का संघर्ष हो रहा था, वैष्णव भक्ति के प्रचार ने एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की।

जिस समय उत्तर भारत में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता थी, उसी समय दक्षिण में वैष्णव भक्ति अथवा भागवत धर्म उन्नति करने लगा था। दक्षिण के आलवार भक्तों की परम्परा ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी से प्रारम्भ हो कर नवीं शताब्दी तक चलती रही। इन आलवार भक्तों के रचे हुए लगभग चार हज़ार भावपूर्ण गीत तमिल भाषा की संपत्ति हैं जिनमें प्रपत्ति की उत्कट भावना तथा विष्णु, वासुदेव या नारायण के प्रति ऐकांतिक प्रेम-भक्ति बड़ी तल्लीनता के साथ व्यक्त हुई है। कृष्ण और गोपियों की आनन्द-क्रीड़ाओं तथा उनके प्रति दास्य, वात्सल्य,

और माधुर्य भाव की भक्ति की अभिव्यक्ति में आलवार भक्तों ने भगवान् की असीम कृपा की बड़ी महिमा गाई है। आलवार भक्तों में विष्णु के राम और कृष्ण, दोनों अवतारों की मान्यता है। जाति-पाँति का भेद-भाव इस भक्ति पंथ में नहीं माना जाता।

किन्तु यह आत्म-समर्पण युक्त ऐकांतिक भक्ति, जिसके इष्टदेव व्यक्ति रूप में कल्पित किए गए थे, उन दिनों व्यापक रूप से प्रचलित नहीं हो सकती थी, क्योंकि शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत तथा माया-वाद और वैराग्यवाद का देशव्यापी प्रचार था। अतः आध्यात्मिक विचार के क्षेत्र में भक्ति के मार्ग को प्रशस्त करना आवश्यक था, जिससे कि भक्ति धर्म को दार्शनिक और शास्त्रीय आधार प्राप्त हो। शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धांत इतना तर्कसम्मत और सर्वस्वीकृत सा था कि उसका सीधा खंडन करना कठिन था। अतः भक्ति संप्रादयों के प्रवर्तक आचार्यों ने किसी न किसी अंश में अद्वैत सिद्धांत को ग्रहण करके उसकी ऐसी व्याख्याएँ कीं कि जिनके आधार पर जीव और ब्रह्म में प्रेम-भक्ति का सम्बन्ध कल्पित किया जा सके। ये सभी आचार्य दक्षिण के थे। सबसे पहिले आचार्य नाथमुनि कहे जाते हैं जो संभवतः ईसा की नवीं शताब्दी में हुए थे। उनके बाद यामुनाचार्य और फिर रामानुजाचार्य हुए। रामानुज (१०३७-११३७ ई०) ने ब्रह्मसूत्रों के 'श्री भाष्य' में चित् और अचित् की विशिष्टता के साथ ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार की और इस प्रकार विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया तथा श्री सम्प्रदाय के नाम से नारायण और श्री (लक्ष्मी) की भक्ति का प्रचार किया। निंबार्काचार्य (देहांत ११६२ ई०) ने ब्रह्म, जीव और

जगत् में मूलभूत अद्वैतता स्वीकार करते हुए प्रकाश रूप से द्वैतता का समर्थन किया और ब्रह्मसूत्रों का भाष्य करके द्वैताद्वैतवाद प्रतिष्ठित किया। उनके द्वारा स्थापित सनक संप्रदाय में राधाकृष्ण के युगल रूप की भक्ति की जाती है। किंतु मध्वाचार्य (११९७-१२७६ ई०) ने अद्वैत सिद्धांत का सीधा खंडन किया और स्पष्ट रूप में द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। माध्व संप्रदाय ने भी विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वल्लभाचार्य (१४७८-१५३० ई०) हुए जिन्होंने सत् (जड़ जगत् और जीव), चित् (जीव) और आनन्द (पूर्णब्रह्म—कभी आविर्भूत और कभी तिरोभूत) रूप से अद्वैत ब्रह्म की व्याख्या की। उन्होंने भी मायावाद का विरोध किया और अपने मत को शुद्धाद्वैतवाद कहा। कहते हैं वल्लभाचार्य से पूर्व एक अन्य आचार्य विष्णुस्वामी हुए थे जिन्होंने मूलतः शुद्धाद्वैतवाद प्रतिपादित किया था और रुद्र संप्रदाय के नाम से कृष्ण भक्ति का प्रचार किया था। विष्णुस्वामी के समय, स्थिति और विचारों के संबंध में बहुत अनिश्चितता है।

उक्त आचार्यों की परंपरा यद्यपि १२ वीं शताब्दी से प्रारंभ हो गई थी, किंतु भक्ति का व्यापक प्रचार १५ वीं शताब्दी से पहले नहीं हो सका। रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर राम भक्ति का देशव्यापी प्रचार करने वाले स्वामी रामानन्द पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए। कबीर उन्हीं के शिष्य कहे जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास भी संभवतः उन्हीं के अनुयायी थे। कृष्ण-भक्ति का प्रचार भी उत्तर भारत में सबसे अधिक वल्लभाचार्य और उनके

पुष्टिमार्गीय संप्रदाय द्वारा हुआ। यद्यपि निंबार्क और मध्व द्वारा स्थापित सनक और ब्रह्म संप्रदाय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से ही कृष्ण-भक्ति का प्रचार करते आ रहे थे, किंतु उनके संप्रदायों की लोकप्रियता १५ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं सुनी जाती। ब्रज प्रदेश में विभिन्न कृष्ण-भक्ति संप्रदायों के केन्द्र भी १५ वीं शताब्दी से पहले नहीं स्थापित हुए थे। राजनीतिक, सामाजिक और संभवतः धार्मिक परिस्थितियाँ ही इसका कारण कही जा सकती हैं। चैतन्य देव (१४८६-१५३३ ई०) भी श्री वल्लभाचार्य के समसामयिक ही थे, जिन्होंने बंगाल में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। गुसाईं हितहरिवंश के राधावल्लभी संप्रदाय का मंदिर सन् १५२५ में स्थापित हुआ था तथा स्वामी हरिदास भी जिन्होंने सखी संप्रदाय की भक्ति का प्रचार किया सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। वस्तुतः कृष्ण-भक्ति का अधिकांश प्रचार उन भक्त कवियों के द्वारा हुआ जो श्री वल्लभाचार्य और चैतन्य के समय में अथवा उनके बाद सोलहवीं शताब्दी में हुए। हमारे कवि सूरदास उन कवियों में प्रत्येक दृष्टि से अग्रगण्य हैं। सूरदास के अतिरिक्त महाप्रभु वल्लभाचार्य ने परमानंददास, कुंभनदास और कृष्णदास को अपने पुष्टिमार्ग में दीक्षित करके कृष्ण-भक्ति-प्रचार के शक्तिशाली साधन जुटाए थे। उनके पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ ने इन भक्त कवियों को उचित आदर और सम्मान दिया तथा उक्त चार भक्त कवियों के साथ अपने चार कवि शिष्यों—चतुर्भुजदास, नंददास, गोविंद स्वामी और छीत स्वामी को सम्मिलित करके उन्हें 'अष्टछाप' नाम से सांप्रदायिक प्रामाणिकता प्रदान की। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण-भक्ति का प्रचार ठीक

हमारे कवि सूरदास के समय—सोलहवीं शताब्दी के आरंभ से ही व्यापक रूप में प्रारंभ हुआ। सूरदास उसके प्रचारकों में अन्यतम थे। इस प्रकार भारतीय इतिहास के भक्तियुग के निर्माताओं में सूरदास अग्रगण्य हैं।

२

जीवन-वृत्त

सूरदास का जन्म कब और कहाँ हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में अंतःसाक्ष्य से हमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती। जनश्रुतियाँ अवश्य प्रचलित हैं, किंतु उनकी प्रामाणिकता जाँचने के लिए कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। संप्रदाय में उनकी बड़ी महत्ता थी। वस्तुतः वे पुष्टिमार्ग के स्तम्भ समझे जाते हैं।

जन्म समय, जन्म स्थान, परिवार, बाल्यावस्था

उन्हें इतना सम्मान दिया गया है कि उनके जन्म दिन का उत्सव आज तक मनाया जाता है। यह जन्म दिन महाप्रभु के जन्म दिन के दस दिन बाद पड़ता है और सम्प्रदाय में अनुश्रुति है कि सूरदास जी महाप्रभु से केवल दस दिन छोटे थे। साधारण रूप से किसी अन्यथा प्रमाण के अभाव में हम इस अनुश्रुति को विश्वासनीय मानते हुए सूरदास की जन्म तिथि सम्वत् १५३५ वि० (१४७८ ई०) वैशाख शुक्ल ५ मान सकते हैं। सूरदास के सम्प्रदाय-प्रवेश, विठ्ठलनाथ के साथ उनके गोकुल-निवास, अकबर से उनकी भेंट आदि उनकी आगामी घटनाओं की अनुमित तिथियों से भी इस जन्म तिथि की संगति मिल जाती है।

सूरदास के जन्म स्थान के संबंध में अब तक कोई निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों ने उनका जन्म स्थान रुनकता नामक गाँव माना है। परन्तु इस अनुमान के लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के वंश में उनकी पाँचवीं पीढ़ी में गुसाईं हरिराय नामक एक आदरणीय सांप्रदायिक विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति के सम्बन्ध में अनेक रचनाएँ की हैं। उन्होंने संभवतः अपने पितामह के भाई, गुसाईं गोकुलनाथ के संरक्षण में संकलित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नामक ग्रन्थों की भी टीकाएँ लिखी हैं जो 'श्री हरिराय के भाव प्रकाश' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में संकलित सूरदास की वार्ता में गुसाईं हरिराय ने अनेक ऐसे इतिवृत्त दिए हैं जो मूल वार्ता में नहीं मिलते। इन्हीं में गुसाईं हरिराय ने बताया है कि सूरदास जी दिल्ली से चार कोस की दूरी पर स्थित सीही ग्राम में एक अत्यन्त निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके तीन बड़े भाई और थे। छः वर्ष की अवस्था में ही वे विरक्त हो कर घर से निकल पड़े और चार कोस दूर एक गाँव के निकट तालाब के किनारे रहने लगे। एक जमींदार ने वहाँ उनके लिए एक झोंपड़ी बनवा दी तथा उनके खाने-पीने का सुप्रबंध कर दिया। इस तालाब के किनारे वे अठारह वर्ष की अवस्था तक रहे। किंतु जिस वैराग्य के लिए वे घर से निकले थे, वही यहाँ पर जब उन्हें भंग होता दिखाई दिया, तब उन्होंने वहाँ से भी कूच कर दिया। कहते हैं, सूरदास जी अलौकिक प्रतिभा ले कर जन्मे थे। वे जन्म से न केवल अन्धे थे, वरन् उनके

नेत्रों का आकार तक नहीं था। छः वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपने पिता की दान में प्राप्त, किंतु खोई हुई दो मुहरों का पता बता कर घर वालों को चकित कर दिया था। इसी चमत्कार के फलस्वरूप वे घर छोड़ने में सफल हुए थे, क्योंकि उन्होंने अपने पिता से पहले ही वचन ले लिया था कि यदि मेरी बताई हुई मुहरें मिल गईं तो आप मुझे घर से चला जाने देंगे। उपर्युक्त ज़मींदार भी इसी कारण सूरदास का भक्त हो गया था कि उन्होंने उसकी खोई हुई दस गायों का पता बता दिया था। तालाब के किनारे कुटी में रहते हुए उनकी सगुन बताने की ख्याति चारों ओर फैल गई तथा उसके फलस्वरूप उनकी फूस की कुटी एक बड़े घर में परिणत हो गई। उनका घर द्रव्य, वस्त्र, धन-धान्य से भरपूर हो गया तथा उनके चारों ओर बड़ा सेवक-समाज जुड़ गया। इसी माया को तोड़ने के लिए सूरदास ने वह स्थान छोड़ दिया, किंतु चलने के पहले उन्होंने अपने माता-पिता को बुला कर उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति सौंप दी। माया में लिप्त कुछ सेवक वहीं रह गए और कुछ विरक्त भक्त उनके साथ हो लिए। स्वयं सूरदास केवल एक लाठी ले कर चल पड़े और मथुरा में आ कर विश्रांत् घाट पर रुके। किंतु यहाँ वे रहे नहीं, क्योंकि वे श्रीकृष्णपुरी में अपना माहात्म्य बढ़ाना उचित नहीं समझते थे, साथ ही मथुरिया चौबे लोगों की आजीविका को भी उनके वहाँ रहने से क्षति पहुँचने की सम्भावना थी। इसी से वे आगे चले और मथुरा तथा आगरा के बीचों-बीच गऊघाट नामक स्थान पर आ कर यमुना के किनारे स्थल बना कर रहने लगे। यहाँ भी उनके अनेक सेवक हो गए, क्योंकि एक तो वे सगुन बताने में बहुत चतुर

थे, दूसरे उनका कंठ बहुत सुन्दर था और वे निपुण गायक थे।

सूरदास के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ हैं। उनके सीही ग्राम में उत्पन्न होने की जनश्रुति के साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि वे कहीं किसी रूपवती स्त्री पर मुग्ध हो गए थे और अन्त में उसी के द्वारा अपनी आँखें फुड़वा कर कृष्ण के रूप सौंदर्य के चिंतन में लीन हो गए थे। वस्तुतः यह जनश्रुति कृष्णबेना गाँव के देवशर्मा ब्राह्मण के पुत्र, विल्व-मंगल सूरदास के सम्बन्ध में प्रसिद्ध रही है, किंतु जन-साधारण हमारे भक्त कवि सूरदास और विल्वमंगल सूरदास के अन्तर को नहीं समझते। लोक-मत को कृष्ण-भक्त के जीवन की यह कल्पना स्वाभाविक और लुभावनी सी लगती है कि वह भी पहले विषयासक्त था। ठीक यही कथा सूरदास मदनमनोहर सूरध्वज ब्राह्मण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है जो दिल्ली के समीप किसी ग्राम के रहने वाले थे और जो कुछ काल तक अकबर की सभा में भी रहे थे। सम्भव है कि एक ही नाम के अनेक सूरदास नामक कवि गायकों के चरित्रों में गुसाईं हरिराय के समय से ही मिश्रण और स्मृति-भ्रम प्रारंभ हो गया हो। गुसाईं हरिराय का समय सन् १५९० से १७१५ ई० है और उन्होंने भक्तों की वार्ताओं पर जो 'भाव प्रकाश' नाम से टिप्पणियाँ जोड़ी हैं उनकी तिथि सन् १६७८ और १७२३ ई० के बीच अनुमान की गई है। उस समय तक सूरदास को गोलोकवासी हुए एक शताब्दी हो चुकी थी, क्योंकि उनका गोलोकवास सन् १५८३ ई० अर्थात् संवत् १६४० विक्रमी के उपरान्त कल्पित नहीं किया जा सकता। सौ वर्ष के भीतर मध्ययुग में परम भगवदीय प्रसिद्ध भक्तों के इतिवृत्त लोकानुश्रुतियों में खो जाएँ, यह

सर्वथा स्वाभाविक है। हमारे देश में आधुनिक काल तक में समसामयिक महात्माओं के सम्बन्ध में विस्मयजनक चमत्कारों की प्रसिद्धि हो जाती है। अतः हम अनुमान कर सकते है कि गुसाईं हरिराय ने सूरदास का इतिवृत्त जनश्रुतियों से ही संकलित किया होगा। किंतु गुसाईं जी ने उस इतिवृत्त में स्त्री द्वारा आँखें फुड़वा लेने का उल्लेख नहीं किया। 'हिन्दी-नवरत्न' के मान्य लेखक मिश्रबंधु का इस विषय में यह अनुमान है कि उन्होंने इस घटना को इसलिए छोड़ दिया कि यह 'स्त्री का विषय' था। गुसाईं जी एक पुष्टिमार्गीय भक्त का माहात्म्य लिख रहे थे, अतः उनके लिए यह अधिक स्वाभाविक था कि वे सूरदास को ऐसा जन्मान्ध मानते जिसके आँखों का आकार भी न हो और जो जन्म से ही दिव्य-दृष्टि तथा श्रेष्ठ भक्त के उत्तम संस्कार ले कर प्रकट हुआ हो। गुसाईं जी द्वारा सूरदास के संबंध में वर्णित चमत्कार स्पष्ट ही किंवदंतियों पर आधारित है, उन्हें इत्तिवृत्त की कोटि में लाने का प्रयत्न विश्वासी भक्तगण ही कर सकते हैं।

सूरदास के अन्य प्रशंसक भक्तों ने भी उनके विषय में इसी प्रकार की बातें लिखी हैं। 'भक्त-विनोद' नामक ग्रंथ में कवि मियाँसिंह ने लिखा है कि सूरदास जी पूर्व जन्म में यादव थे और कृष्ण के परम मित्र थे। श्रीकृष्ण के वरदान के अनुसार इनका जन्म मथुरा प्रांत में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ, किन्तु जन्मांध होने के कारण माता-पिता को इससे सुख नहीं मिला। आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत हुआ और इनका नाम सूरदास प्रसिद्ध हुआ। एक बार ये माता-पिता के साथ मथुरा गए और वहीं रह गए। इनकी भक्ति और संगीत-

निपुणता की ख्याति चारों ओर फैल गई। एक बार ये किसी अँधे कुएँ में गिर गए जिससे स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने इन्हें निकाला और दृष्टि-दान दिया। किन्तु सूरदास ने भगवत्-दर्शन के बाद नश्वर संसार को न देखने की इच्छा से फिर अंधे होने का वरदान माँग लिया। 'राम-रसिकावली' में महाराज रघुराजसिंह ने लिखा है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे, जन्म से ही अंधे थे, किन्तु भगवान् ने उन्हें दिव्य चक्षु दिए थे। एक बार उन्होंने अपनी पत्नी के शृङ्गार में त्रुटि बता कर उसे चकित कर दिया था। किन्तु मियाँसिंह और रघुराजसिंह दोनों के दिए हुए विवरण भक्त-माहात्म्य से अधिक नहीं माने जा सकते। सूरदास के सम्बन्ध में लोक-मानस में जो परम आदर और श्रद्धा की भावना रही है उसी से प्रेरित हो कर इस प्रकार की काल्पनिक बातें प्रचलित हो गई हैं। कम से कम, जब तक उनके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण न हो, तब तक सूरदास के जन्म-स्थान, माता-पिता, परिवार और संन्यास ग्रहण करने की परिस्थिति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

नेत्रहीनता

सूरदास के अंधे होने की बात भी उनके जन्म के साथ सम्बद्ध की जाती है। जैसा उपर्युक्त विवरण से विदित है, गुसाईं हरिराय उन्हें न केवल जन्मांध बताते हैं, वरन् यहाँ तक कहते हैं कि उनके नेत्रों के ठीकरे तक न थे, केवल भौंहें थीं; अतः वे सूर थे, अंधे नहीं। परन्तु गुसाईं हरिराय का यह कथन, जैसा कि कह चुके हैं, जनश्रुति पर ही आधारित है। सूर-दास जैसे श्रेष्ठ भक्त कवि के सम्बन्ध में जन्मांध होने की कल्पना लोक-विश्वास और लोक-श्रद्धा के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी

प्रकार यह भी एक स्वाभाविक लोक-कल्पना है कि वे एक बार कुएँ में गिर गए थे और स्वयं श्रीकृष्ण ने उन्हें बाँह पकड़ कर निकाला था और सूरदास ने पुनः अंधे होने का वरदान माँगा था। निश्चय ही सूरदास विषयांध मनुष्य को जन्म-जन्मांतर से भव-कूप में पड़े देख कर व्यथित थे। स्वयं उन्हें उनके परम करुणामय कृपालु भगवान् कृष्ण ने बाँह पकड़ कर भव-कूप से निकाला और उनका उद्धार किया था। सूरदास की उत्कट भक्ति तथा उनके द्वारा किए गए कृष्ण-रूप-माधुरी के असंख्य यथार्थ जैसे चित्र देख कर श्रद्धालु भक्तों के लिए यह विश्वास करना अनिवार्य-सा है कि सूरदास ने श्रीकृष्ण जी का साक्षात् दर्शन किया था। किन्तु सूरदास जैसा भक्त जिन नेत्रों से साक्षात् भगवान् का दर्शन कर ले उनसे उस असार संसार को क्यों देखना चाहेगा, जिसकी उसने भरपूर विगर्हणा की हो! अतः उनके पुनः अंधे होने का वरदान माँगना सर्वथा स्वाभाविक है। साथ ही, लोक-मत इस विवेकहीन बात को कैसे प्रचलित कर देता कि अंधे सूरदास को श्रीकृष्ण भगवान् ने शेष जन्म भर के लिए सनेत्र कर दिया था? किन्तु आलंकारिक वर्णन लोक-विश्वास में यथार्थ सत्य का रूप ले लेते हैं।

परम श्रद्धालु भक्त यह सदैव मानते रहेंगे कि सूर जन्म से अंधे थे और उनका अन्यथा मानना ही अस्वाभाविक है। किन्तु इस धार्मिक कोटि के विश्वास को तर्क का आधार देने की चेष्टा और तत्सम्बन्धी आग्रह व्यर्थ ही विचार-शैथिल्य को प्रश्रय देना है। फिर भी, इधर कुछ सांप्रदायिक प्रभावों के फलस्वरूप इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विवाद

उठाया गया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि सूरदास जन्मांध थे। स्वयं सूरदास की रचना में इस सम्बन्ध में कोई साक्षी नहीं मिलती। सांप्रदायिक विद्वानों का सबसे बड़ा आधार श्री गुसाईं हरिराय की साक्षी है, किन्तु हरिराय जी द्वारा दिया हुआ वृत्तान्त सूरदास के भक्ति-माहात्म्य को अधिक प्रकाशित करता है, ऐतिहासिक तथ्य को नहीं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से भी सूर के जन्मांध होने का समर्थन नहीं प्राप्त होता। किन्तु यह निर्विवाद-सा है कि सूरदास अंधे थे। अंतःसाक्ष्य से भी इसका समर्थन होता है, यथा—

१. **यहै जिय जानि कै अंध भव त्रास तैं,**
 सूर कामी-कुटिल सरन आयौ ॥५॥

२. **सूरदास की एक आँखि है, ताहू मैं कछु कानौ ॥४७॥**

३. **बिप्र सुदामा कियो अजाची प्रीति पुरातन जानि।**
 सूरदास सौं कहा निहोरौ नयनन हूँ की हानि ॥१३५॥

४. **सूर कूर आँधरौ मैं द्वार पर्यौ गाऊँ ॥१६६॥**

५. **कर जोरि सूर बिनती करै सुनहु न हो रुकुमिनि-रवन।**
 काटौ न फंद मो अंध के, अब बिलंब कारन कवन ॥१८०॥

३. **मौसो पतित न और हरे।**
 जानत हौ प्रभु अन्तरजामी जे मैं कर्म करे।
 ऐसौ अंध अधम अविवेकी, खोटनि करत खरे ॥१६८॥

उपर्युक्त उद्धरणों में अंतिम चार में स्पष्ट रूप से सूरदास ने स्वयं अपने विषय में कथन करते हुए अपने को अंधा कहा है। दूसरे उद्धरण में 'एक आँख' होने का अर्थ काना नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि सूर-

दास के सम्बन्ध में इस प्रकार की न तो कोई जनश्रुति है और न किसी प्रकार की एक भी साक्षी। सूरदास के कुछ अन्य पदों के संदर्भ के अनुसार इसका अर्थ यह लिया जा सकता है कि सूरदास चर्म दृष्टि से हीन थे, केवल उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, किन्तु वह भी अपूर्ण रूप में ही। पहले उद्धरण का अर्थ वाचिक भी लिया जा सकता है और आलंकारिक भी। भव-त्रास से अंधे होने का अर्थ हो सकता है मोह-मद-मत्सर आदि के कारण सत्य-दर्शन में असमर्थ; साथ ही यह भी सम्भव है कि सूर अपने नेत्रहान होने का भी संकेत कर रहे हों। सूरदास कब अंधे हुए, इस विषय में जानने का कोई साधन नहीं है। कुछ समालोचकों ने कुछ पदों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सूरदास वृद्धावस्था में शिथिलेंद्रिय हो गए थे और तभी उनकी दृष्टि जाती रही होगी। वे पद ये हैं—

१. **इत उत देखत जनम गयौ।**
या माया झूठी के कारन दुहुँ दृग अंध भयौ।
जन्म कष्ट तैं मातु दुखित भई, अति दुख प्रान सह्यौ।
वै त्रिभुवनपति बिसरि गए तोहिं, सुमिरत क्यों न रह्यौ ?
श्री भागवत सुन्यौ नहिं कबहूँ, बीचहिं भटकि मरयौ।
'सूरदास' कहै सब जग बूड़यौ, जुग-जुग भक्त तरयौ ॥२६१॥

२. **सबै दिन गए विषयन के हेत।**
तीनौं पन ऐसे ही खोए, केस भए सिर सेत।
आखिनि अंध, स्त्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत।

मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत ।
ऐसौ प्रभू छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत ।
राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे, चंद गहैं ज्यौं केत ।
'सूरदास' कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत ॥२९६॥

३. अब मैं जानी देह बुढ़ानी ।
सीस पाउँ कर कह्यौ न मानत, तन की दसा सिरानी ।
आन कहत, आनै कहि आवत, नैन नाक बहै पानी ।
मिटि गई चमक-दमक अँग-अँग की, मति अरु दृष्टि हिरानी ।
नाहिं रही कछु सुधि तन-मन की, भई जु बात बिरानी ।
'सूरदास' अब होत बिगूचनि, भजि लै सारँगपानी ॥३०७॥

किंतु इन पदों को तथा इन्हीं के समान अन्य अनेक पदों को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने इनमें सामान्य ढंग से उस समय के समाज का चित्रण किया है, जब मनुष्य बिना किसी उद्देश्य के बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक भोगमय जीवन बिताता था और जब शिथिलेन्द्रिय हो जाता था, तब पश्चात्ताप करता था। इन कथनों को कवि के आत्म-कथन मानने का आग्रह करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से सूरदास के संबंध में अनेक ऐसी बातें माननी पड़ेंगी जिनमें परस्पर स्पष्टतया विरोध है। अतः हम प्राप्त प्रमाणों के आधार पर केवल इतना ही मान सकते हैं कि सूरदास जी अंधे अवश्य थे, वे किस अवस्था में अंधे हुए-यह नहीं कहा जा सकता। उनके जन्मांध होने की बात प्रमाण-पुष्ट नहीं है तथा ऐसा मानने से हमें अपने विश्वास को तर्क और युक्ति की सीमा से बाहर ले जाना पड़ेगा।

रूप और रंगों का वह सौंदर्यपूर्ण संसार, जिसकी सृष्टि सूर ने अपने काव्य में की है, एक बार प्रत्यक्ष देखे बिना इतने यथार्थ रूप में कैसे चित्रित किया जा सकता था?

सूरदास की जाति के सबंध में भी इसी प्रकार विवाद उठाया गया है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के मूल पाठ में उनकी जाति का उल्लेख नहीं है। इस ग्रंथ में बानवे भक्तों की वार्ताएँ दी गई हैं जिनमें बहत्तर भक्तों की जाति का उल्लेख शीर्षकों में ही कर दिया गया है। इन बहत्तर में से पच्चीस ब्राह्मण हैं। पुनः इन पच्चीस में से ग्यारह सारस्वत ब्राह्मण हैं। सूरदास इनमें नहीं हैं। किन्तु इधर पुष्टिमार्गीय संप्रदाय में यह विश्वास चल रहा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे। इस विषय में सबसे प्रबल प्रमाण गुसाईं हरिराय द्वारा 'वार्ता' पर लिखित 'भाव प्रकाश' है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' के यशस्वी लेखक प्रो० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, एल०-एल० बी, डी० लिट् ने काँकरोली के विद्या-विभाग में 'चौरासी वार्ता' की एक ऐसी प्रति भी देखी है जिसमें उसका लिपि काल १६९७ वि० लिखा है। इस प्रति में सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखा गया है। किंतु खेद है कि इस प्रति की अभी पूर्ण परीक्षा नहीं हो पाई है। इस प्रति की प्रामाणिकता के संबन्ध में संदेह का एक बड़ा कारण यह है कि इसमें लिपि-काल का केवल संवत् लिखा है, दिन, तिथि और मास नहीं, जिसके आधार पर उसकी सत्यता की जाँच हो सके। प्राचीन प्रतियों में केवल संवत् मात्र देने की परिपाटी प्रायः नहीं है, संवत् के

जाति

साथ दिन, तिथि और मास भी दिया जाता है। केवल संवत् देने वाली प्रतियाँ परीक्षा करने पर प्रायः अप्रामाणिक ही सिद्ध हुई हैं। जो हो, जब तक इस प्रति की वैज्ञानिक परीक्षा नहीं हो जाती, तब तक हम इसके कथन को प्रमाण नहीं मान सकते।

किंतु केवल प्रमाणाभाव के आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि सूरदास ब्राह्मण या सारस्वत ब्राह्मण नहीं थे। एक पद में सूरदास ने कहा है '**सूरदास प्रभु तुम्हरी भक्ति लगि, तजी जाति अपनी**' (२०७६), जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास ने भक्ति में दीक्षित होने के बाद जाति-पांति के झगड़े को एक दम छोड़ दिया था, इसी कारण उनकी जाति के संबंध में अधिक नहीं लिखा गया। किंतु हमारे समाज में ब्राह्मणों को जो सम्मान दिया जाता है तथा मध्ययुग में दिया जाता था, उसे देखते हुए यह विश्वास नहीं होता कि यदि सूरदास इतनी दृढ़ता के साथ जाति भेद को त्याग देते, तो भी 'वार्ता' भक्त की इतनी महत्ता के विषय में मौन रह जाती। स्वाभाविक यही जान पड़ता है कि इस सम्बन्ध में एक और प्रसंग जोड़ा जाता जिसमें वर्णन किया जाता कि सूरदास उच्च कुल के सारस्वत ब्राह्मण थे, किंतु तो भी उन्होंने अपनी जाति छोड़ दी थी। किंतु ऐसा न तो उस तथाकथित १६६७ वि० वाली 'वार्ता' में लिखा गया है और न गुसाईं हरिराय ने ही ऐसा लिखा है।

अंतःसाक्ष्य से हमें सूरदास की जाति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। कुछ परोक्ष ढंग के प्रमाण अवश्य हैं, जिनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास का ब्राह्मण जाति

के प्रति कुछ भी ममत्व नहीं था। हो सकता है कि इसका कारण यह हो कि वे स्वयं ब्राह्मण नहीं थे। यह भी संभव है कि जाति के विषय में उनकी हार्दिक उदासीनता ही इसका कारण हो। किन्तु फिर भी, ऐसा लगता है कि यदि वे स्वयं ब्राह्मण होते तो निम्न प्रकार के कथन न करते—

१. **श्रीधर बाँभन करम कसाई। कह्यौ कंस सौं बचन सुनाई।**
बाँभन मारैं नहीं भलाई। अँग याकौ मैं देउँ नसाई।
जब ही बाँभन हरि ढिग आयौ। हाथ पकरि हरि ताहि गिरायौ।
बाँभन कैं मुख बात न आवै। जीभ होइ तौ कहि समुझावै।
बाँभन कौं घर बाहर कीन्हौं। गोद उठाइ कृष्न कौं लीन्हौं॥६७५॥

२. **महराने तैं पाँड़े आयौ।**
ब्रज घर-घर बूझत नँद-राउर पुत्र भयौ सुनि कै उठि धायौ।
पाइं धोइ भीतर बैठार्‌यौ भोजन कौं निज भवन लिपायौ।
जो भावै सो भोजन कीजै, बिप्र मनहिं अति हर्ष बढ़ायौ।
धेनु दुहाइ, दूध लै आई, पाँड़े रुचि करि खीर चढ़ायौ।
घृत मिष्टान्न खीर मिश्रित करि, परुसि कृष्न-हित ध्यान लगायौ।
नैन उघारि बिप्र जो देखै, खात कन्हैया देखत पायौ।
देखौ आइ जसोदा सुत कृति, सिद्ध पाक इहिं आइ जुठायौ।
महरि बिनय करि दुहुं कर जोरे, घृत-मधु-पय फिरि बहुत मंगायौ।
सूरस्याम कत करत अचगरी, बार-बार बाह्मनहिं खिझायौ॥८६६॥

३. **तुम कब मो सौं पतित उधार्‌यौ।**
काहे कौं हरि बिरद बुलावत बिन मसकत को तार्‌यौ।

अजामील तौ बिप्र तिहारौ, हुतौ पुरातन दास।
नैंकु चूक तैं वह गति कीनी, पुनि वैकुण्ठ निवास।
पतित जानि तुम सब जन तारे, रह्यौ न कोऊ खोट।
तौ जानौं जो मोहिं तारिहौ, सूर कूर कवि ठोट ॥१३२॥

४. कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दिए सुदामहिं, अरु गुरु के सुत आनि।
बिप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहोरौ नैनन हूं की हानि ॥१३५॥

प्रथम उद्धरण में श्रीधर ब्राह्मण के लिए 'बाँभन' शब्द का पाँच बार प्रयोग किया गया है। स्वयं 'बाँभन' शब्द का प्रयोग तथा उनके प्रयोग की शैली, दोनों तिरस्कारव्यंजक हैं। महराने के 'पाँड़े' के लिए भी 'बाँभन' शब्द का प्रयोग किया गया है; स्वयं 'पाँड़े' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है तथा तिरस्कारव्यंजक है। किसी ब्राह्मण कवि से साधारणतया अपनी जाति के सम्बन्ध में यह तिरस्कार सम्भव नहीं जान पड़ता। सूरदास 'श्रीधर बाँभन' और महराने के 'पाँडे' की कथाएँ सरलता से छोड़ सकते थे, क्योंकि स्वयं श्रीमद्भागवत में उनका उल्लेख नहीं हुआ है। सूरदास ने अपने काव्य में ब्राह्मणों की कोई प्रशंसा-स्तुति नहीं की, यद्यपि श्रीमद्भागवत में बार-बार विप्रों के सम्बन्ध में आदर और प्रशंसा के भाव व्यक्त किए गए हैं। किन्तु सूरदास के द्वारा विप्र जाति के प्रति उपेक्षा भाव तथा तिरस्काराभास का यह कारण भी बताया जा सकता है कि कृष्ण-भक्ति के पंथ

में जाति की उच्चता के लिए कोई स्थान नहीं है तथा भक्तिहीन ब्राह्मण भी तिरस्कार योग्य है। तीसरे और चौथे उद्धरण में अजामिल और सुदामा से सूरदास ने अपनी हीनता व्यंजित की है। 'अजामिल तौ विप्र' तथा 'तौ जानौं जो मोहिं तारिहौ' को मिला कर पढ़ने पर लगता है कि सम्भवतः सूरदास अजामिल विप्र से जाति में कम थे। सुदामा के विप्रत्व के कथन से भी कुछ ऐसी ही ध्वनि निकलती है। फिर भी इन थोड़े से कथनों के आधार पर जिनमें प्रत्यक्ष स्पष्टता की कमी है, यह किसी प्रकार के आग्रह के साथ नहीं कहा जा सकता कि सूरदास ब्राह्मण नहीं थे; केवल इस प्रकार की ध्वनि निकलती है जिसे हम अन्य प्रमाणों से पुष्ट करके ही यथार्थ रूप से ग्रहण कर सकते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, इस विषय में असंदिग्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

जहाँ एक ओर पुष्टिमार्गीय संप्रदाय तथा उससे प्रभावित विद्वानों ने सूरदास को ब्राह्मण अथवा सारस्वत ब्राह्मण सिद्ध करने के प्रयत्न किए हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें भट्ट या भट्ट ब्राह्मण भी बताया गया है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रबल प्रमाण सूरदास की तथाकथित रचना 'साहित्य लहरी' का ११८ वाँ पद है जिसमें कवि ने अपना नाम सूरजचन्द लिखा है, तथा अपने छः भाइयों के नाम भी लिखे हैं। उनके सब से प्रथम पूर्वज पृथु यज्ञ से उत्पन्न ब्रह्मराव थे। उन्हीं के वंश में 'चंद' हुए जिन्हें महाराज पृथ्वीराज ने ज्वालादेश दिया। चंद के चार पुत्र हुए, सबसे बड़ा राजा हुआ जिसका नाम नहीं दिया गया है। दूसरा पुत्र गुणचंद था, गुणचंद का पुत्र सीलचंद और सीलचंद का पुत्र

वीरचन्द हुआ। यह वीरचंद रणथंभोर के राजा हम्मीर के साथ खेलता था। इसके वंश में हरिचंद हुआ, उसका वीर पुत्र आगरे रह कर गोपाचल चला गया। इसके सात पुत्र थे जो बड़े योद्धा थे। सूरजचन्द उन्हीं में से सातवाँ था। पहले छः पुत्र शाह के साथ (उसकी सहायता में !) युद्ध करते हुए मारे गए। केवल अन्ध सूरजचन्द बच रहा जो एक बार कुएँ में गिर पड़ा। संसार में उसकी पुकार किसी ने न सुनी, तब सातवें दिन यदुपति ने आ कर उसका उद्धार किया, उसे दिव्य चक्षु दिए और वर माँगने की आज्ञा दी। सूरजचन्द ने प्रभु की भक्ति, शत्रु का नाश तथा राधा-श्याम के अतिरिक्त दूसरा रूप न देखने का वरदान माँगा। करुणा-सिंधु ने 'एवमस्तु' कहा और बताया कि दक्षिण के प्रबल विप्र कुल से शत्रु का नाश होगा। उन्होंने सूरजचन्द के सूरजदास और सूरस्याम नाम रखे और वे रात का पिछला प्रहर होते ही अंतर्धान हो गए। अन्त में कवि सूरजचन्द बताता है कि मेरी इच्छा चित्त को स्थिर करके ब्रज में बसने की हुई, गुसाईं ने मेरी आठ में थाप कर छाप की।

इस पद के अनुसार सूरजदास (अथवा सूरदास ?) का वास्तविक नाम सूरजचन्द था। सूरस्याम भी उनका नाम था। सूरजचन्द ने अपने पिता का नाम नहीं लिखा और न उन्होंने अपने उन पूर्वजों का नाम लिखा है जो ज्वालादेश के राजा हुए थे और चन्द वरदाई के पुत्र थे। उन्होंने अपने गुरु का भी नाम नहीं लिखा और न यह बताया कि उनके शत्रु (मानसिक शत्रु ?) का नाश कैसे हुआ ! इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि सूरदास ने अपनी पूरी वंशावली कैसे

दे दी, क्योंकि उनका स्वभाव अपने सम्बन्ध में कुछ भी आत्म-विज्ञापन सूचक बातें न करने का रहा है। और, वंशावली देते हुए भी उपर्युक्त अन्य बातें भी लिखना स्वाभाविक न था। इन तथा कुछ अन्य बातों के आधार पर मिश्रबन्धु, पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रो० दीनदयालु गुप्त जैसे मान्य विद्वानों ने इस पद को 'साहित्य लहरी' में प्रक्षिप्त माना है। इन विद्वानों का एक तर्क यह भी है कि 'साहित्य लहरी' का अन्तिम पद १०९वाँ होना चाहिए, क्योंकि उसमें रचना-काल दिया गया है। १०९ वें पद के बाद वाले सभी पद प्रक्षिप्त समझना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त विद्वद्वरों को इस पद को प्रक्षिप्त मानने की सबसे अधिक प्रेरणा कदाचित् इस बात से मिली है कि यह पद सूरदास को पृथु यज्ञ से उत्पन्न ब्रह्मराव और चन्द वरदाई का वंशज सिद्ध करता है, जब कि यह स्वयं-सिद्ध सा मान लिया गया है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे। हम पीछे देख चुके हैं कि सूरदास को ब्राह्मण या सारस्वत ब्राह्मण मानने का कोई अकाट्य प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं है। साथ ही, इस पद में वर्णित सूरदास की जाति राव, भाट या ब्रह्म-भट्ट थी, इसके लिए भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। हम आगे चल कर देखेगें कि 'साहित्य लहरी' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती, अतः उसके पद में वर्णित वंशावली तथा १०९वें पद में दिया हुआ रचना-काल, दोनों 'सूरसागर' के कवि सूरदास की जीवनी के लिए सहायक नहीं हो सकते। किन्तु जिस प्रकार सांप्रदायिक क्षेत्रों में सूरदास को ब्राह्मण मानने की जनश्रुति चलने लगी, उसी प्रकार कम से कम ब्रह्मभट्ट जाति में उन्हें ब्रह्मभट्ट मानने की जनश्रुति भी प्रचलित है। इस

धारणा की आंशिक पुष्टि सूरदास के उन उपर्युक्त पदों से हो जाती है जिनमें उन्होंने ब्राह्मण जाति के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया है। साथ ही 'सूरसागर' के ६५३ से ६५७ संख्या के पाँच पद भी इसकी पुष्टि में इंगित किए जा सकते हैं जिनमें कवि ने कृष्ण-जन्म के आधार पर अपने को 'ढाढ़ी' और 'जगा' कहा है। यथा—

१—(नंदजू) मेरैं मन आनन्द भयौ मैं, गोवर्धन तैं आयौ।

....

हौं तो तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मोहिं नाऊँ ॥६५३॥

२—मैं तेरे घर कौ हौं ढाढ़ी, मो सरि कोउ न आन।

....

हौं तेरौ जनम जनम कौ ढाढ़ी, सूरजदास कहाउँ ॥६५४॥

३—(नंदजू) दुःख गयौ सुख आयौ, सबनि कौं देव-पितर भल मान्यौ।

....

हौं तौ तुम्हरे घर को ढाढ़ी, नाउँ सुनैं सचु पाऊँ।

गिरि गोवर्धन बास हमारौ, घर तजि अनत न जाऊँ ॥६५५)

४—ढाढ़ी दान मान के भाई!

....

भक्ति देहु, पालनैं झुलाऊँ, सूरदास बलि जाई ॥६५६॥

५—नंद उदै सुनि आयौ हो, वृषभानु कौ जगा ॥६५५॥

हो सकता है कि उपर्युक्त सभी पद प्रामाणिक न हों तथा उनमें कवि की काल्पनिक इच्छामात्र व्यक्त हुई हो,. जाति का कोई वास्तविक संकेत न हो। तीसरे और चौथे उद्धरणों वाले पदों में कवि ने स्वयं ढाढ़ी बन कर अपने साथ अपनी ढाढ़िनी का भी उल्लेख किया है जिससे

उपर्युक्त दोनों सम्भावनाओं की पुष्टि हो सकती है। पुष्टिमार्ग में ढाढ़ी के रूप में कल्पित करके उपर्युक्त अवसर के अनुकूल पद-रचना करने वाले अन्य कवि भी हुए हैं। अष्टछाप के प्रायः सभी कवियों ने ढाढ़ी के पद लिखे हैं। निश्चय ही वे सब ढाढ़ी नहीं थे। फिर भी इन पदों में सूरदास द्वारा व्यक्त व्यक्तिगत आत्मीयता का भाव यह संकेत अवश्य देता है कि वे सम्भवतः 'ढाढ़ी', जागा, या ब्रह्मभट्ट जाति के हो सकते हैं। ब्रह्मभट्ट भी अपने को ब्राह्मण कहते हैं, यद्यपि उन्हें सम्भवतः विरुदावली गा कर वृत्ति कमाने के कारण ऊँचे ब्राह्मण वर्ग ने अपने में सम्मिलित नहीं रखा है। ब्रह्मभट्ट वंश-परंपरा से ही कवि होते हैं, इसलिए उन्हें सरस्वती-पुत्र या सारस्वत भी कहा जा सकता है। डा॰ मुंशीराम शर्मा ने उनके सारस्वत होने की जनश्रुति के सम्बन्ध में यही अनुमान किया है। किन्तु उपर्युक्त 'साहित्य लहरी' के ११८वें पद तथा समूची रचना को अप्रामाणिक मान लेने के बाद सूरदास के उपर्युक्त ढाढ़ी वाले पद रह जाते हैं और उनका लाक्षणिक अर्थ करके इस सम्भावना को भी समाप्त किया जा सकता है। निष्कर्ष रूप में सूर की जाति के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उनके सारस्वत ब्राह्मण होने की अनुश्रुति प्रामाणिक नहीं है, साथ ही यह भी निश्चित नहीं है कि वे ढाढ़ी या ब्रह्मभट्ट थे। सम्भव है कि वे ब्राह्मण न हों। वस्तुतः वे इतने उच्च भक्त थे कि उन्हें जाति की उच्चता-हीनता की कोई चिंता न थी। वंश से वे किसी भी जाति के हों, कर्म से वे महान् भक्त होने के नाते ऊँचे से ऊँचे सम्मान के अधिकारी थे।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' को यदि हम प्रामाणिक मानें तो

सूरदास के जीवन-वृत्त में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उनका महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा दीक्षा ले कर श्रीनाथजी की सेवा में सम्मिलित होना है। यह घटना अनुमानतः सन् १५१० ई० के आस-पास की है, जब महाप्रभु वल्लभाचार्य दूसरी बार अपने स्थायी निवास-स्थान अडेल (प्रयाग) से ब्रज आए थे। सूरदास की अवस्था उस समय ३२ वर्ष के लगभग थी। वे आगरा और मथुरा के मध्यवर्ती यमुना तट पर स्थित गऊघाट नामक स्थान पर विरक्त संन्यासी के रूप में रहते थे। उनके अनेक सेवक थे तथा वे स्वामी कहलाते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य का आगमन सुन कर वे उनके दर्शन करने गए। वल्लभाचार्य जी भी सूरदास की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने उनसे कुछ सुनाने को कहा। सूरदास ने विनय के दो पद सुनाए—

सम्प्रदाय-प्रवेश

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक अजामिल गनिका तारी, और पूतना ही कौ।
मोहिं छांडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन मैं, मोहूँ तैं को नीकौ ॥१४५॥

तथा,

हरि हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक।

जो प्रभु अजामील कौ दीन्हौं सो पाटौ लिखि पाऊँ ।
तौ बिस्वास होइ मन मेरैं औरौ पतित बुलाऊँ ।

....

बहुत भरोसो जानि तुम्हारौ, अघ कीन्हें भरि भाँड़ौ ।
लीजै बेगि निबेरि तुरत ही, सूर पतित कौ टाँड़ौ ।।१४६।।

इन पदों में घोर आत्महीनता की जो भावना व्यक्त की गई है, वह महाप्रभु को नहीं रुची, यद्यपि वे सूर की उच्च भक्ति-भावना से अवश्य प्रभावित हुए। उन्होंने सूर को 'घिघियाना' (दीनता प्रकट करना) छोड़ कर भगवल्लीला वर्णन करने का आदेश दिया । संभवतः सूरदास उस समय तक श्रीकृष्ण की 'लीला' से परिचित नहीं थे । सूर की प्रार्थना पर महाप्रभु ने उन्हें नाम सुना कर समर्पण कराया, अर्थात् उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया जिसके अनुसार भक्तगण अपना तन, मन, धन भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित कर देता है और सर्वभावेन 'श्रीकृष्णं शरणं मम्' का व्रत ले लेता है। इस समर्पण के उपरान्त भक्त को किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती और वह निर्भय हो कर संसार में विचरण करता है; संसार का राग-द्वेष उसे लिप्त नहीं करता, क्योंकि वह उसे श्रीकृष्ण को ही समर्पित करके निश्चिंत हो जाता है । महाप्रभु ने सूरदास को श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवल्लीला सुनाई, तब सूरदास ने श्रीकृष्ण के जन्म वर्णन का पद रच कर सुनाया—

ब्रज भयौ महर कैं पूत, जब यह बात सुनी ।
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक गुनी ।

सुनि धाईं सब ब्रजनारि, सहज सिँगार किये।
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिये।
कसि कंचुकि, तिलक लिलार, सोभित हार हिये।
कर कंकन, कंचन-थार, मंगल साज लिये।
सुभ स्रवननि तरल तरौन, बेनी सिथिल गुही।
सिर बरषत सुमन सुदेस, मानौ मेघ फुही।
मुख मंडित रोरी रंग, सेंदुर माँग छुही।
उर अंचल उड़त न जानि, सारी सुरँग सुही।
ते अपनैं अपनैं मेल निकसीं भाँति भली।
मनु लाल सुनैयनि पाँति, पिंजरा तोरि चली।
गुन गावत मंगल गीत, मिलि दस पाँच अली।
मनु भोर भएँ रवि देखि, फूलीं कमल-कली। आदि ॥६४३॥

इस लम्बे पद में सूरदास की भावना सहज उद्रेक के साथ उसी प्रकार स्वछंद और तीव्र गति से बह निकली है, जिस प्रकार पर्वत की निर्झरिणी चट्टानों की बाधाओं का अतिक्रमण करती हुई अत्यन्त वेग से प्रवाहित होती है। श्रीकृष्ण की लीला से परिचय प्राप्त करने तथा मन की समस्त वृत्तियाँ उन्हीं को समर्पित कर देने के उपरान्त सूरदास के मन से उन समस्त विधि-निषेधों का भारी बोझ दूर हो गया जिनके कारण उन्होंने संन्यास ले लिया था और रूप और रंगों के उस संसार को त्याग दिया था जो पद-पद पर हमें प्रलोभनों में फँसाता है। श्रीकृष्ण के नाते अब उनके सम्मुख सौन्दर्य का असीम संसार खुल गया, तभी तो उन्हें हर्षोत्फुल्ल ब्रज-नारियों के नूतन चीर, नयनों

के काजल, कसी हुई कंचुकी, माथे के तिलक, गले के हार, हाथ के कंकरण, कानों के तरिवन, केशों की कबरी आदि से युक्त सहज शृंगार का चित्र खींचने की उमंग हुई। उन्होंने अत्यन्त स्वच्छंदता और तन्मयता के साथ श्रीकृष्ण की समस्त लीला का पदों में गायन किया।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' पर आधारित उपर्युक्त विवरण को यदि प्रामाणिक माना जाए, तो सूरदास की काव्य-रचना का सारा श्रेय वल्लभाचार्य जी और उनके पुष्टिमार्ग को दिया जायगा, जिनके कारण ही सूरदास का वैराग्य भाव कृष्णानुराग में परिवर्तित हो गया और उन्हें अपनी उस भाव-राशि को प्रकाशित करने का अवसर मिल गया जो अन्यथा संन्यास-जीवन की शुष्कता और नीरसता में मुर्झाई दबी पड़ी रहती। वल्लभाचार्य जी के सत्संग से सूरदास जी को अपने मन की गाँठें खोलने का अवसर मिल गया और उन्होंने अपना समस्त अज्ञान मिटा कर गोपाल कृष्ण के माहात्म्य ज्ञान के साथ उनसे प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने की महत्ता समझ ली।

सूरदास ने स्वयं रास-वर्णन के अंत में गुरु की इस कृपा का उल्लेख किया है—

धनि सुक मुनि भागवत बखान्यौ।
गुरु की कृपा भई जब पूरन तब रसना कहि गान्यौ।
धन्य स्याम बृन्दावन कौ सुख संत मया तें जान्यौ।
जो रस रास रंग हरि कीन्ह्यौ, बेद नहीं ठहरान्यौ।
सुर नर मुनि मोहित भए सबही, सिवहु समाधि भुलान्यौ।
सूरदास तहाँ नैन बसाए, और न कहूँ पत्यानौं ॥१७६१॥

सूरदास ने 'सूरसागर' में यद्यपि अपने गुरु का कहीं नाम नहीं लिया, फिर भी उनका गुरु के प्रति अत्यन्त उच्च भाव था। गुरु ही नहीं, गुरु के पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ, जो गुरु के स्थान पर आसीन थे, अवस्था में छोटे होने पर भी सूरदास की दृष्टि में गुरु के समान ही पूज्य थे। दोनों महानुभावों को सूरदास जी साक्षात् श्रीकृष्ण का अवतार मानते थे। सूरदास के गोलोकवास की घटना से इस बात की साक्षी मिलती है।

महाप्रभु ने सूर को गोवर्धन पर अपने इष्टदेव श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा सौंपी थी। श्रीनाथ जी के कीर्तन के लिए ही विभिन्न अवसरों के उपयुक्त सूरदास ने असंख्य पद रचे तथा 'श्रीमद्भागवत', अन्य पुराणों एवं लोक-विख्यात कृष्णाख्यान के आधार पर उन्होंने श्रीकृष्ण की वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव से समन्वित सम्पूर्ण लीला को मनोहर पदों में गाया। उनके पदों की संख्या 'सहस्त्रावधि' हो गई। भक्तों ने उसे 'लक्षावधि' कर दिया और किंवदंती चल पड़ी कि सूरदास ने सवा लाख पद रचने का संकल्प किया था, किन्तु एक लाख रचने के बाद ही मृत्यु-समय आसन्न जान उन्हें चिन्ता होने लगी। अपने भक्तों की सहायता का निरन्तर आश्वासन देने वाले श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं श्रीनाथ जी के रूप में रात के समय पच्चीस हज़ार पद रच कर सूरदास के पदों में सम्मिलित कर दिए और उनमें 'सूरश्याम' की छाप लगा दी। तथ्य यह है कि सूरदास ने जो कई सहस्त्र पद रचे वे ही इतने श्रेष्ठ हैं कि सूरदास के काव्य की प्रतिष्ठा युगों तक अक्षुण्ण रह सकती है। संख्या के आधार पर ही नहीं, अपितु भाव-गाम्भीर्य के आधार पर भी सूर के पद 'सागर' कहलाने लगे। 'सूर-

सागर' में इस समय लगभग पाँच सहस्त्र पद संगृहीत मिलते हैं।

वल्लभाचार्य जी अनुपम सूझ-बूझ के धर्म-प्रचारक थे। उन्होंने श्रीनाथ जी के मन्दिर को अपने पुष्टिमार्ग का केन्द्र बनाया और वहाँ पर अनेक प्रतिभासम्पन्न भक्तों को एकत्र किया जिनमें कई प्रसिद्ध कलाविद्, गायक और कवि थे। वल्लभाचार्य जी के दूसरे पुत्र गुसाइँ विट्ठलनाथ के समय में सम्प्रदाय का संगठन और अधिक व्यापक तथा शक्तिशाली हो गया। उन्होंने अपने पिता की परम्परा को विकसित किया और आठ श्रेष्ठ भक्त-कवियों को विशेष रूप से सम्मानित करके 'अष्टछाप' की स्थापना की। उन्होंने कृष्ण-भक्ति में अपने पिता के समय से प्रचलित गोपाल कृष्ण की वात्सल्य भक्ति के साथ-साथ राधा-कृष्ण की माधुर्य भक्ति भी सम्मिलित कर ली और श्रीनाथ जी की सेवा में भी कुछ ऐसे व्रत और त्यौहारों को सम्मिलित कर लिया जिनमें कृष्ण के माधुर्य रूप और राधा की भक्ति का विधान था। सूरदास जी ने विट्ठलनाथ जी के समय के काव्य, संगीत और विभिन्न कलाओं के सम्पन्न वातावरण से पूरा लाभ उठाया तथा अनेक समसामयिक भक्तों और कवियों के सत्संग में अपनी प्रतिभा विकसित की। गोपाल कृष्ण की वात्सल्य भक्ति के वर्णन-चित्रण के साथ-साथ उन्होंने राधा-कृष्ण की माधुर्य भक्ति संवर्धक लीला का भी विशद चित्रण किया है। उनके समय में ब्रज में भक्ति का कैसा वैभव था, इसका कुछ संकेत निम्न पद से मिलता है—

मथुरा दिन-दिन अधिक विराजै।
तेज प्रताप राइ केसौ कें, तीन लोक पर गाजै।

पग-पग तीरथ कोटिक राजे, मधि विश्रांत विराजै ।

करि अस्नान प्रात जमुना कौं, जनम मरन भय भाजै ।

बिट्ठल विपुल विनोद बिहारन, ब्रज कौ बसिबौ छाजै ।

सूरदास सेवक उनहीं कौं, कृपा सु गिरिधर राजै ।।३७१४।।

ब्रज की इस संपन्नता में गुसाईं विठ्ठलनाथ जी का कितना हाथ था, यह भी इस पद से व्यंजित होता है।

सूरदास जी के जीवन की बहुत थोड़ी-सी घटनाएँ मिलती हैं। एक महत्त्वपूर्ण घटना सम्राट् अकबर से उनकी भेंट कही जा सकती है। कहते हैं कि अकबर के प्रसिद्ध सभा-गायक तानसेन के द्वारा यह भेंट सम्पन्न कराई गई थी। अतः इस भेंट का समय सन् १५६३ ई० के उपरांत ही माना जा सकता है, क्योंकि इसी वर्ष तानसेन अकबर के दरबार में आए थे। बहुत संभव है कि सम्राट् अकबर सूरदास से सन् १५७५-७६ के लगभग मिले हों, क्योंकि सन् १५७५ में उन्होंने फ़तेहपुर सीकरी में इबादतख़ाना बनवाया था और सन् १५७६ तक समस्त उत्तर भारत को जीत कर वे युद्ध-जीवन से विश्राम ले सके थे।

अकबर से भेंट

कहते हैं कि देशाधिपति अकबर ने सूरदास से कुछ गाने की प्रार्थना की, तो सूरदास जी ने गाया—

मन रे माधव सों करि प्रीति ।

काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तू, छाँड़ि.सबै विपरीति । इत्यादि ।।३२५।।

इस पद को सुन कर सम्राट् बहुत प्रसन्न हुए, पर उन्होंने अपने यशोगान की इच्छा प्रकट की। सूरदास जी ने गाया—

मन मैं रह्यौ नाहिंन ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसें आनियै उर और ।
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति ।
हृदय तें वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति ।
कहत कथा अनेक उधौ, लोग लोभ दिखाइ ।
कहा करौं मन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समाइ ।
स्याम गात सरोज आनन ललित मृदु मुख हास ।
सूर इनकैं दरस कारन, मरत लोचन प्यास ॥४३५०॥

अन्तिम पंक्ति सुन कर अकबर ने पूछा कि तुम्हारे लोचन तो हैं नहीं, प्यासे क्या मरते हैं ? सूरदास ने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु सम्राट् को स्वयं उत्तर सूझ गया । वे समझ गए कि सूरदास जी का संकेत उनके उन दिव्य चक्षुओं की ओर है जो भगवान् का दर्शन करने में समर्थ हैं । कहते हैं, सूरदास जी को सम्राट् ने कुछ द्रव्य भी देना चाहा, पर सूरदास जी को संसार के किस वैभव की वांछा थी !

भक्तों की महत्ता वस्तुतः उनके अन्तिम समय में प्रकट होती है । सूरदास जी के अन्तिम काल की घटना अत्यन्त व्यंजक है । सूरदास जी को जब यह आभास मिल गया कि उनका

गोलोकवास

अन्तिम समय निकट आ गया है, तब वे पारसौली के चन्द्र सरोवर पर चले गए, जहाँ पर, कहते हैं, श्रीकृष्ण जी ने गोपियों के साथ रासलीला की थी । सूरदास जी श्रीनाथ जी की ध्वजा के सामने दंडवत् लेट गए और श्री आचार्य जी, श्रीनाथ जी तथा श्री गुसाईं जी का स्मरण करने लगे । इधर

श्री गुसाईं जी ने श्रीनाथ जी का शृंगार करते समय जब सूरदास को कीर्तन करते न देखा तो उनके विषय में पूछताछ की। यह सुन कर कि सूरदास जी पारसौली की ओर गए हैं, गुसाईं जी को आभास हो गया कि सूरदास जी का अन्त समय निकट आ गया है। उन्होंने एकत्र भक्तों से कहा कि 'पुष्टिमार्ग का जहाज' जा रहा है, जिसे जो कुछ लेना हो, ले ले। 'राजभोग' आरती करके गुसाईं जी राम-दास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी और चतुर्भुजदास आदि को साथ ले कर स्वयं पारसौली पहुँचे। गुसाईं जी का आगमन सुन कर सूरदास को चेत आ गया। उन्होंने कहा कि मैं तो महाराज की बाट ही देख रहा था और गद्‌गद् हो कर गाया—

देखौ देखौ जू हरि कौ एक सुभाइ।
अति गंभीर उदार उदधि हरि, जान-सिरोमनि राइ।
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहिं बूँद तुल्य भगवान्।
बदन प्रसन्न कमल सनमुख ह्वै देखत हौं हरि जैसें।
बिमुख भए अकृपा न निमिष हूँ फिरि चितयौं तौ तैसें।
भक्त-बिरह-कातर करुनामय, डोलत पाछें लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे।।८।।

इससे स्पष्ट होता है कि सूरदास जी का भाव गुसाईं जी के लिए कितना ऊँचा था। वे उन्हें गुरु-पद पर स्थित स्वयं परम करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण के ही समान समझते थे। गुसाईं जी सूरदास का मर्म समझ कर बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु चतुर्भुजदास जी ने फिर भी

सूरदास से पूछा कि आपने भगवान् का यश तो बहुत गाया, पर इसका क्या कारण है कि श्री आचार्य जी के यशोगान में कोई पद नहीं रचा? सूरदास जी ने उत्तर दिया कि मैंने जो कुछ भगवत्-यश गाया है, वही आचार्य जी का भी यशोगान है; मैं दोनों में कोई अंतर नहीं देखता। किन्तु गुरु-कृपा के स्मरण-मात्र से भाव-विभोर हो कर सूरदास ने गाया—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख चंद्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि मैं जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहै दुबिधि आँधरो बिना मोल को चेरो।

यह पद सूरदास की उपलब्ध प्रतियों में नहीं पाया जाता। सूरदास ने अपने गुरु का नाम ले कर एक पद भी संभवतः नहीं रचा। उन्होंने प्राकृत काव्य की रचना नहीं की, फिर भी गुरु के प्रति उनके मन में कितना ऊँचा भाव था, यह इस प्रसंग से स्पष्ट सूचित होता है। उनकी दृष्टि में उनके गुरु महाप्रभु वल्लभ तथा गुरु के पद पर आसीन गुसाईं विट्ठलनाथ—दोनों लगभग उसी प्रकार पूज्य थे जिस प्रकार स्वयं उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण। इस पद को गा कर सूरदास भाव-विभोर हो कर मूर्च्छित हो गए। गुसाईं जी ने पूछा, 'सूरदास जी, चित्त की वृत्ति कहाँ है?' सूरदास जी ने यह पद गा कर उत्तर दिया—

बलि बलि बलि हौं कुमरि राधिका नंद सुवन जासों रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है छानी।
वे जु धरत तन कनक पीत पट सो तो सब तेरो गति ठानी।

ते पुनि स्याम सहज वे सोभा अंबर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अंग अबहिं ह्वै आयो निरखि देखि निज देह सयानी।
सूर सुजान (श्याम) के बूझे प्रेम प्रकाश भयो बिहँसानी।

यद्यपि यह पद भी संभवतः 'सूरसागर' में नहीं मिलता, फिर भी इस भाव के पद 'सूरसागर' में प्रचुर संख्या में पाए जाते हैं। इसमें सूरदास ने व्यंजित किया है कि राधा और कृष्ण शरीर से दो होते हुए भी मन से अभिन्न हैं। राधा के मन में कृष्ण के स्मरण मात्र से सात्विक भाव उदय हो जाते हैं। इस समय सूरदास जी कृष्ण का ध्यान करके उसी प्रकार पुलकित थे, जैसे राधा हो जाती हैं। उनका अंग-अंग मिलनोत्सुकता में हर्षित हो रहा था। गुसाईं जी ने सूरदास के प्रेम की गूढ़ता में अपनी भावुक अंतर्दृष्टि से देखा कि स्वयं श्रीकृष्ण जी सूर के भाव को देखकर सजल-नयन हो गए हैं। उन्होंने फिर पूछा, 'सूरदास जी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है?' तब सूरदास जी ने गाया—

खंजन नैन सुरँग रस माते।
अतिसय चारु बिमल चंचल ये, पल पिंजरा न समाते।
बसे कहूँ सोइ बात सखी कहि, रहे इहाँ किहिं नातें।
सोइ संज्ञा देखति औरासी, बिकल उदास कला तें।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के सकि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन-गुन अटके नतरु कबै उड़ि जाते ॥३२८५॥

यह पद 'सूरसागर' में राधा के मिलनोपरांत सुख के वर्णन-प्रसंग में आया है। सुरंग (सुरति) के रस में उन्मत्त राधा के खंजन के

समान चंचल नयन जो स्वभावतः अत्यन्त विशद और नुकीले हैं, मिलन-सुख से हर्षित हो कर इतने विशाल लगते हैं, मानो वे पलकों के बन्धनों को तोड़ कर उसी प्रकार उड़ जाना चाहते हों, जिस प्रकार पिंजड़े में बन्दी पक्षी। वस्तुतः उन नयनों का निवास तो कहीं और ही है, न जाने वे यहाँ किस नाते से ठहरे हुए हैं। नयनों का भाव अत्यन्त विलक्षण है। हर्ष के साथ-साथ उनमें उदासी और विकलता भी है। विशाल नयनों की पुतलियाँ दोनों कानों को छूती हुई ऐसी लगती हैं, मानो कानों के ताटंकों को फाँद कर वे निकल भागना चाहती हैं। सचमुच वे नेत्र यदि अंजन के गुण (रस्सी) से अटके न होते तो न जाने कब के उड़ गए थे। सूरदास जी के प्राण भी जीवन के इस लघु व्यवधान में श्रीकृष्ण से बिछुड़ कर इसी प्रकार व्याकुल थे, उनमें पूर्व-मिलन की सुखद स्मृति का हर्ष, वर्तमान बिछोह के कारण उदासी तथा मिलनोत्कंठा की विकलता थी। वे राधा के भाव से अपने इष्टदेव के साथ एकाकार हो जाने के लिए चंचल हो उठे थे। यह पद गाते ही सूरदास के प्राण पखेरू उड़ गए और श्रीकृष्ण के लीला-सुख में सम्मिलित हो गए। सूरदास की भक्ति, जो सम्भवतः प्रारम्भ में सेवक-सेव्य भाव की थी, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की उत्तरोत्तर तन्मयता को अपनाती हुई राधा के परम भाव में चरम परिणति पा कर पूर्ण हो गई।

सूरदास की निधन तिथि निश्चित रूप में नहीं बताई जा सकती। किन्तु यह निश्चित-सा है कि सन् १५७१ और १५८५ ई० के बीच ही उनका देहावसान हुआ होगा, क्योंकि गुसाईं जी सन् १५७१ ई०

में गोकुल में स्थायी रूप से आ बसे थे तथा उनका देहान्त १५८५ ई० में हुआ था। हमने पीछे अनुमान किया है कि अकबर से सूरदास की भेंट संभवतः सन् १५७५-७६ ई० के आस-पास हुई होगी। अतः सूरदास का निधन सन् १५८० के लगभग हुआ होगा और १२० वर्ष के लगभग आयु पा कर उन्होंने इहलीला संवरण की होगी।

सूरदास के जीवन-वृत्त का उपर्युक्त विवरण प्रधानतया 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता, कतिपय जनश्रुतियों और यत्किंचित् अंतःसाक्ष्य पर आधारित है। 'चौरासी वार्ता' भी वस्तुतः ऐतिहासिक कोटि के प्रमाण में नहीं आती और जब तक उसका वैज्ञानिक संपादन और ऐतिहासिक परीक्षण नहीं हो जाता, तब तक उसे निर्णयात्मक प्रमाण नहीं माना जा सकता। उसे बहुत कुछ ऐसी जनश्रुति ही माना जाएगा, जिसे बहुत कुछ विश्वसनीय समझा जा सकता है। किन्तु सूरदास के सम्बन्ध में उपर्युक्त इतिवृत्त चाहे सर्वथा प्रामाणिक न हो, सूरदास के भक्ति-भाव, उनके स्वभाव और उनके मानसिक जगत् का परिचय हमें इस रूप में मिल जाता है जिसे 'सूरसागर' के आधार पर हम प्रामाणिक मान सकते हैं।

३

रचना तथा विषय-वस्तु

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सूचित होता है कि जिस समय सूरदास गऊघाट पर संन्यासी वेश में रहते थे उस समय भी वे पद-रचना करते थे तथा उनकी पद-रचना और गान-विद्या की ख्याति थी। 'वार्ता' के अनुसार उस समय उन्हें श्रीकृष्ण की लीला का परिचय नहीं मिला था।

सूरसागर

उनकी भक्ति-भावना का मूलाधार दैन्य भाव था तथा वे संसार के प्रलोभनों और मन और इंद्रियों की चंचल-प्रवृत्ति से दुखी और व्यथित हो कर करुणामय भगवान से कृपा की याचना करते हुए गाते थे। यदि इस कथन को प्रामाणिक मानें तो कह सकते हैं कि सूरदास के वे पद जिन्हें विनय पदों के नाम से अभिहित किया जाता है तथा जो प्रायः 'सूरसागर' के आदि में संगृहीत मिलते हैं, अधिकांश में उसी समय रचे गए होंगे। इन पदों की संख्या श्री वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण में केवल ११२ और नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में २२३ है। महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने और श्रीकृष्ण की लीला से परिचित होने के बाद ही 'वार्ता' के अनुसार सूरदास जी ने 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर कृष्ण-लीला सम्बन्धी पद-रचना प्रारम्भ की। उन्हें महाप्रभु ने श्रीनाथ जी की सेवा का कार्य सौंपा जिसके फलस्वरूप

सूरदास को नित्य प्रति पद-रचना करने की प्रेरणा मिली। सूरदास का रचना-काल अस्सी वर्ष से भी अधिक लम्बे काल का अनुमान किया जा सकता है। इस लम्बी अवधि में सूरदास ने सहस्रों पद रचे होंगे। 'वार्ता' में कहा गया है कि उन्होंने 'सहस्रावधि' पद रचे जो 'सागर' कहलाए। वार्ता के बाद के अनुलेखों में यह संख्या 'लक्षावधि' कर दी गई तथा उनमें इस प्रशंसात्मक जनश्रुति को भी स्थान मिल गया कि सूरदास ने सवा लाख पद रचे थे। पीछे बताया गया है कि इन सवा लाख में से पच्चीस सौ पद स्वयं श्रीनाथ जी के रचे हुए बताए गए हैं। सूर के सवा लाख पदों की बात बहुत कुछ पौराणिक जैसी रही है। 'सूरसागर' के प्रस्तुत संस्करणों में इनके पच्चीसवें अंश के बराबर भी पद नहीं हैं। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों में तो बहुत कम ऐसी प्रतियाँ हैं जिनमें चार हज़ार पद भी हों। स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने बड़े परिश्रम से 'सूरसागर' की कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ संकलित की थीं और नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में उसके समुचित संपादन और प्रकाशन का आयोजन किया था; किन्तु उनके संपादन का ढंग वैज्ञानिक नहीं था। पदों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के परीक्षण-विवेचन के स्थान पर उनका उद्देश्य पदों का अधिकाधिक संग्रह था। उनके जीवन काल में 'सूरसागर' का बहुत थोड़ा अंश प्रकाशित हो सका। बाद में श्री नंददुलारे वाजपेयी ने बड़े परिश्रम से वह कार्य समाप्त किया और १७२४ पृष्ठों की दो जिल्दों में 'सूरसागर' का अद्यावधि बृहत्तम संस्करण निकाला, जिसमें ४९३६ पद हैं। अंत में दो परिशिष्ट भी हैं। प्रथम परिशिष्ट के पदों के सम्बन्ध

में विद्वान् सम्पादक को पूरा निश्चय नहीं है कि वे प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक हैं; उनके विषय में अन्वेषण की अपेक्षा है। इस परिशिष्ट में २०३ पद है। द्वितीय परिशिष्ट में ६७ पद हैं जिन्हें विद्वान् सम्पादक ने निश्चित रूप से प्रक्षिप्त माना है। इस प्रकार 'सूरसागर' के पदों की संख्या पाँच हज़ार से अधिक नहीं होती। परिमाण की दृष्टि से यह संख्या कम नहीं है। काव्य-गुण और श्रेष्ठता की दृष्टि से सूर के सम्बन्ध में कुछ भी कहने के लिए श्री वेंकटेश्वर प्रेस वाले संस्करण के साढ़े चार हज़ार के लगभग पद भी पर्याप्त हैं। किन्तु सूर के कुछ विद्वान् समीक्षकों ने इधर सूर की जन्मांधता के साथ-साथ यह भी सिद्ध करने का उद्योग किया है कि सूर ने सवा लाख पद अवश्य रचे होंगे। श्रीद्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने ग्रन्थ 'सूर निर्णय' में प्रतिदिन की पद-रचना का हिसाब लगा कर गणित की सहायता से सवा लाख की किंवदंती को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उन्होने सूर की भाषा के सम्बन्ध में भी किसी सीमा को नहीं माना है और यह संभावना स्वीकार की है कि सूर ने खड़ीबोली में भी पद रचे होंगे। किन्तु साहित्य-समीक्षा मे यदि सहानुभूति श्रद्धा-भक्ति मे परिणत हो जाए, तो विवेक चला जाता है और समालोचना एकांगी हो जाती है। जैसा ऊपर संकेत किया गया है, सूर की महत्ता रचना के परिमाण पर निर्भर नही है। वस्तुतः समस्या यह नहीं है कि 'सूरसागर' में सवा लाख पद थे या नहीं, और न यह कि 'सूरसागर' के कथित पद अधिक से अधिक संख्या में कैसे संकलित किए जाएँ। समस्या है 'सूरसागर' की अधिकाधिक हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके,

उनकी वंश-परम्परा, उनका परस्पर-सम्बन्ध, उनमें उपलब्ध प्राचीनतम प्रति और उसकी विविध शाखाओं की उत्तराधिकारी प्रतियों आदि का वैज्ञानिक प्रणाली पर निर्णय करके संपादक करने की। यह बड़े दुःख का विषय है सूर जैसे महाकवि की रचना का कोई वैज्ञानिक रीति से सम्पादित संस्करण नहीं मिलता। श्री नंददुलारे वाजपेयी का कार्य अवश्य स्तुत्य है, क्योंकि अब तक 'सूरसागर' का कोई संस्करण उपलब्ध नहीं था; श्री वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण भी अप्राप्य हो गया है। अब कम से कम सूर के विद्यार्थी के लिए 'सूरसागर' एक सुन्दर रूप में उपलब्ध तो है। किंतु इस संस्करण में कहीं कहीं पदों का क्रम बदल दिया गया है और इस परिवर्तन का कारण नहीं बताया गया। उदाहरण के लिए, वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण में 'बाल-वत्स-हरण लीला' और 'धेनुक-वध वर्णन' के बीच में 'चकई-भौंरा खेलन समय', 'श्री राधाकृष्ण जी का प्रथम मिलाप', 'सुख विलास', 'गृह-गवन', 'श्री राधिका जी का यसोदा गृह गवन', श्री 'राधाश्याम खेलन समय', 'श्री राधा गृह गवन' शीर्षकों से राधा-कृष्ण के बाल्यावस्था के मधुर-प्रेम का प्रसंग आया है। 'सभा' के संस्करण में इस प्रसंग को इस स्थल से हटा कर 'चीरहरण लीला' के पूर्व 'यसोदा राधा के गृह आई', शीर्षक प्रसंग के पहले रख दिया गया है। इस परिवर्तन का आधार किसी हस्तलिखित प्रति का पाठ नहीं, अपितु राधा सम्बन्धी प्रसंगों को एकत्र करना मात्र है। किंतु यह एकत्रीकरण भी आंशिक ही हो सका है, क्योंकि राधा सम्बन्धी प्रसंग तो 'सूरसागर' के अंत तक चलते हैं और बीच-बीच में बिखरे हुए हैं। उनके बिखरेपन में वस्तुतः एक

योजना है। उसमें प्रेम का उदय, विकास और चरम परिणति है तथा राधा-कृष्ण प्रेम के साथ-साथ गोपीगण के प्रेम का आदर्श और अनुकरण के आधार पर प्रेम-विकास चित्रित किया गया है।

'सूरसागर' के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रांतियों का कारण दो मिथ्या धारणाएँ हैं। एक तो यह कि 'सूरसागर' सूरदास के द्वारा कीर्तन के लिए रचे गए प्रसंगहीन स्फुट पदों का संग्रह है और दूसरी यह कि 'सूरसागर' श्रीमद्भागवत का उल्था है। यद्यपि ये दोनों धारणाएँ परस्पर विरोधी हैं—दूसरी धारणा में पहली का स्पष्ट निराकरण है, फिर भी विचार-शिथिलता के क्रम में इन दोनों का विलक्षण मिश्रण हो जाता है। वास्तविक बात यह है कि 'सूरसागर' न तो स्फुट पदों का संग्रह मात्र है और न 'भागवत' का उल्था। उसमें एक क्रम-बद्ध प्रबंध-कल्पना है और समूची प्रबन्ध-कल्पना में अनाविल ढंग के संगठन और संहिति के अभाव के आभास का कारण उसकी पद शैली है। 'सूरसागर' की कृष्ण-लीला के प्रबन्ध की यह विलक्षण विशेषता है कि समूचे प्रबन्ध के अंग रूप उसमें अनेक प्रसंग अत्यन्त सुगठित और अप्रतिहत लघु-प्रबन्धों के रूप में रचे मिलते हैं। श्रीमद्भागवत का उसमें इतना ही आधार लिया गया है जितना कृष्ण की ब्रज-लीला की रूपरेखा बनाने के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, उसमें अनेक नवीन प्रसंगों की अवतारणा है तथा उसकी प्रकृति भावना-समन्वित काव्य की है, न कि पुराण-रचना की। अतः उसमें 'भागवत' के कितने ही प्रसंग, विवरण और सिद्धांत छोड़ दिए गए हैं। 'भागवत' का आधार लेते हुए भी यह कृति सूर की मौलिकता प्रमाणित करती है।

'सूरसागर' को 'भागवत' का उल्था मानने का सबसे बड़ा कारण है उसकी बाह्य रूप-रचना। 'सूरसागर' का श्री वेंकटेश्वर प्रेस वाला संस्करण ही विशेष प्रचलित रहा है और वह 'भागवत' की भाँति बारह स्कंधों में विभक्त है। अब नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण प्रकाशित हुआ है और वह भी बारह स्कंधों में ही विभाजित है। किंतु 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों में उसका एक ऐसा रूप भी मिलता है जिसमें श्रीकृष्ण की लीला, जो 'भागवत' के दशम स्कंध में वर्णित है मुख्य रूप से दी हुई है, 'विनय' आदि प्रसंग गौण रूप से दिए हैं तथा शेष एकादश स्कंधों की कथा नहीं दी गई है। कृष्णानन्द व्यास द्वारा संपादित 'राग कल्पद्रुम' में सम्मिलित तथा वही पृथक् रूप में नवलकिशोर प्रेस से छपा हुआ 'सूरसागर' इसी प्रकार का है, किंतु अब वह अलभ्य होगया है। 'सूरसागर' के इन दो रूपों को हम द्वादश-स्कंधी क्रम और लीला क्रम के नाम से अभिहित कर सकते हैं। 'सूरसागर' के सम्पादक को इन दोनों क्रमों में सम्बन्ध स्थापित करके यह निर्णय करना है कि कौन क्रम अधिक प्रामाणिक और सूर के निकटतम है।

किंतु 'सूरसागर' के द्वादश-स्कंधी क्रम के अवलोकन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दशम स्कंध पूर्वार्द्ध और श्रीकृष्ण की ब्रज-लीला सम्बन्धी दशम उत्तरार्द्ध के अंशों को छोड़ कर अन्य स्कंधों की रचना में कवि की कोई रुचि नहीं है, उन्हें केवल पूर्ति या भरती के लिए रचा गया जान पड़ता है। 'सभा' के संस्करण के अनुसार दशम स्कंध पूर्वार्ध के ४१६० पद और उत्तरार्ध के २४६ पद मिला कर पूरे दशम स्कंध के पदों की कुल संख्या ४३०६ होती है। 'सूरसागर' की

समूची पद संख्या ४६३६ है। दशम स्कंध के अतिरिक्त केवल ६२७ पद बचते हैं जिनमें २२३ पद विनय के हैं। इस प्रकार 'सूरसागर' के शेष एकादश स्कंध केवल ४०४ पदों के हैं। इन ४०४ पदों में से भी यदि हम नवम स्कंध में दिए हुए राम-कथा सम्बन्धी १६८ पद निकाल लें तो केवल २३६ पद बचते हैं, जिनमें दस स्कंधों की कथा कह दी गई है। स्पष्ट ही इनमें कथा का सार भी नहीं आ सकता। इसके विपरीत 'श्रीमद्भागवत' में दशम तथा अन्य स्कंधों के आकार में इतनी भिन्नता नहीं है। 'सूरसागर' का दशम स्कंध पूर्वार्द्ध 'भागवत' के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध से आकार में बहुत बड़ा है। उसमें अनेक नवीन प्रसंग हैं। इन नवीन प्रसंगों में सबसे अधिक संख्या राधा और गोपी सम्बंधी प्रसंगों की है। 'भागवत' में तो राधा का नामोल्लेख तक नहीं है। आगे 'सूरसागर' के वर्ण्य विषय का परिचय दिया गया है।

'सूरसागर' के रूप, पद-क्रम और पद-संख्या आदि के सम्बन्ध में भले ही पर्याप्त मत-विभिन्नता हो, परन्तु इस सम्बन्ध में मत-भेद नहीं है कि 'सूरसागर' सूरदास की प्रामाणिक रचना है, सूर के कवित्व और भक्ति की महत्ता की वही एकमात्र आधार है। 'सूरसागर' के अतिरिक्त सूरदास की जिन रचनाओं का नाम लिया जाता है, उनमें 'सूरसागर सारावली' तथा 'साहित्य लहरी' नामक रचनाओं की अधिक चर्चा होती है।

'सूरसागर सारावली' की कोई हस्तलिखित प्रति आज तक उपलब्ध नहीं हुई। केवल यह वेंकटेश्वर प्रेस तथा नवलकिशोर प्रेस वाले 'सूरसागर' के संस्करणों के साथ संलग्न मिलती है। इन संस्करणों में इसे

सूरसागर सारावली किस हस्तलिखित प्रति के आधार पर छापा गया, इसका भी उनमें उल्लेख नहीं है। इस रचना का उल्लेख न तो 'वार्ता' में ही ही हुआ है और गुसाईं हरिराय ने अपनी 'भाव प्रकाश' वाली 'वार्ता' अथवा अपने 'भाव प्रकाश' में उसका संकेत तक किया है। 'सूरसागर सारावली' नाम से सूचित होता है कि यह रचना 'सूरसागर' का सार है। इसका पूरा नाम 'श्री सूरदास जी रचित सूरसागर सारावली तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र' छपा है। किंतु इसकी परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना 'सूरसागर' का न तो सार है और उसका सूचीपत्र; उलटे, इसमें और 'सूरसागर' में अनेक विवरणगत विभिन्नताएँ अवश्य हैं। विवरणगत विभिन्नताओं के अतिरिक्त इसकी भाषा के शब्द-रूप और व्याकरण के प्रयोग तथा इसकी शैली और विचारधारा में 'सूरसागर' से पर्याप्त भिन्नता है। काव्य की दृष्टि से भी इस रचना का कोई मूल्य नहीं है, इसमें एक गेय पद प्रारंभ में दिया गया है और वह भी वही पद है जो 'सूरसागर' के प्रारंम्भ में आया है। शेष सारी रचना 'सार' और 'सरसी'—दो छन्दों में की गई है। इन दोनों छन्दों के दो-दो चरणों वाले कुल ११०७ छन्द 'सारावाली' में हैं।

वस्तुतः सरलता से उपलब्ध न होने के कारण 'सारावली' का अध्ययन नहीं किया गया। केवल इसका उपयोग सूरदास के जीवन-वृत्त की कुछ तिथियाँ निकालने में होता रहा है। इधर विद्वद्वर प्रो० दीनदयालु गुप्त ने सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण में भी इसका उपयोग किया है। पहले-पहल प्रस्तुत लेखक ने ही अपने

'सूरदास' ग्रंथ में इस रचना की बहुत विस्तृत और पूर्ण परीक्षा करके यह निर्णय किया था कि "कथा-वस्तु, भाव, भाषा-शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूरसागर-सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती।" यद्यपि यह निर्णय अभी विद्वद्गण सामान्य रूप से स्वीकार नहीं कर सके हैं, फिर भी 'सारावली' को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले कोई अकाट्य तर्क सामने नहीं आए। जो हो, 'सारावली' ऐसी कृति नहीं है जिसे यदि हम सूर-कृत मान लें तो सूर के कवित्व और भक्ति-भाव की महत्ता में वृद्धि हो सके। पुष्टिमार्गीय दार्शनिक सिद्धान्तों की यत्किंचत् पुष्टि इसके द्वारा अवश्य अपेक्षाकृत अधिक हो सकती है और संभवतः यही कारण विशेष है जिससे सांप्रदायिक विद्वान् इसकी प्रामाणिकता के विषय में आग्रह करते हैं।

सूर साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'सूरसागर सारावली' का एक संस्करण 'सूर-सारावली' नाम से अभी हाल में (सं० १९१४ वि०) अग्रवाल प्रेस, मथुरा से प्रकाशित कराया है। उन्होंने पुनः इस रचना को सूर-कृत सिद्ध करने के प्रमाण दिए हैं, परंतु इन प्रमाणों में कोई ऐसी नवीनता नहीं है जिस पर विचार न कर लिया गया हो। इस रचना की एक भी हस्तलिखित प्रति न मिलना इसके संदिग्ध होने का सब से बड़ा प्रमाण कहा जा सकता है।

'सूरसागर-सारावली' के निम्न कथनों का उपयोग सूर के जीवन-वृत्त के लिए किया जाता है—

१. **गुरु प्रसाद होत यह दरशन सरसठ बरष प्रबीन।**
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन ॥१००२॥

२. **कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सबही भ्रम भरमायो।**
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो ॥११०३॥
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ताको सार 'सूर सारावलि' गावत अति आनंद ॥११०३॥

इन कथनों में कई सूचनाएँ दी गई हैं। पहली यह कि गुरु-प्रसाद से ६७ वर्ष में यह दर्शन (युगल दम्पति राधा-कृष्ण का दर्शन) होता है। किंतु विद्वानों ने पहले इसका यह अर्थ समझा था कि 'सूरसागर-सारावली' की रचना सूरदास जी ने ६७ वर्ष की अवस्था में की थी। इस सरसठ वर्ष की अवस्था की संगति एक दूसरी रचना 'साहित्य लहरी' की रचना के साथ मिलाई गई। 'साहित्य लहरी' के १०६ वें पद की

'मुनि पुनि रसन के रस लेष।
दसन गौरीनंद को सुत सुबल संवत पेष।'

पंक्तियों के आधार पर उसकी रचना तिथि संवत् १६०७ विक्रमी मानी गई और यह अनुमान करके कि 'सारावली' और 'साहित्य लहरी', दोनों कृतियों की रचना लगभग साथ-साथ और 'सूरसागर' की रचना के बाद हुई होगी, यह निष्कर्ष निकाला गया कि सूरदास जी का जन्म सं० १५४० विक्रमी में हुआ होगा। किंतु अब विद्वद्गण उपर्युक्त पंक्तियों से संवत् १६१७ या १६२७ की संख्याएँ निकालते हैं, जो निश्चय ही १६०७ से अधिक युक्तिसंगत हैं। साथ ही, अब 'सारावली' की उपरिनिर्दिष्ट पंक्ति में ग्रंथ-समाप्ति की सूचना नहीं मानी जाती। अतः अब इस पंक्ति का उपयोग सूर का जन्म-संवत् निकालने के

लिए नहीं किया जाता; उससे केवल इतना सूचित होता है कि कवि को सरसठ वर्ष की अवस्था में युगल रूप का दर्शन मिला जिसे वह गुरु का प्रसाद समझता है। दूसरी सूचना यह ली गई है कि गुरु-कृपा से युगल-दर्शन करके सूर ने जिस सिद्धि की प्राप्ति कर ली, वह बहुत दिनों की शैवमतसम्मत तपस्या से नहीं मिल पाई थी। तात्पर्य यह है कि सूरदास जी पहले शैव थे। पुनः कवि कहता है कि कर्म, योग, ज्ञान और उपासना सभी मार्गों में भ्रमित होता रहा, किंतु जब श्री वल्लभ गुरु ने तत्त्व-ज्ञान कराया और लीला का भेद समझाया तभी से मैंने एक लाख पदों में अथवा एक लक्ष्य से पद-बद्ध कर हरि की लीला गाई। उसी का सार यह 'सूर सारावली' अत्यंत आनन्द से गाता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि सूरदास ने शैव तप के अतिरिक्त कर्म, योग, ज्ञान और उपासना मार्गों की भी परीक्षा करके उनकी असमर्थता देख ली थी, वल्लभाचार्य जी ने उन्हें तत्त्व-ज्ञान दिया था तथा कृष्ण-लीला का भेद बताया था। अपने विषय में इतने स्पष्ट रूप में सूरदास ने इतनी बातें बता दी हैं तथा साथ ही यह भी घोषित कर दिया है कि—

> **तब बोले जगदीश जगत गुरु सुनो सूर मम गाथ।**
> **तू कृत मम यश जो गावैगो सदा रहै मम साथ ॥११०४॥**
> **धरि जिय नेम सूरसारावलि उत्तर दक्षिण काल।**
> **मन वांछित फल सब ही पावैं मिटे जन्म जंजाल ॥११०५॥**
> **सीखै सुनै पढ़ै मन राखै लिखै परम चित लाय।**
> **ताके संग रहत हौं निशि दिन आनँद जन्म विहाय ॥११०६॥**

सरस संवत्सर लीला गावें युगल चरण चित लावें।

गर्भवास बंदीखाने में सूर बहुरि नहिं आवें ॥११०७॥

यहाँ सूरदास ने आत्म-विज्ञापन करते-करते अपनी 'सारावली' की महत्ता स्वयं जगदीश जगद्गुरु के मुख से कहला दी है। सूर की रची हुई 'सारावली' गाने से, हृदय में धारण करने से, सीखने, सुनने, पढ़ने, मन में रखने और चित्त लगा कर लिखने से मनोवांछित फल मिलेगा, भगवान् आनन्द जन्म छोड़ कर सदा साथ रहेंगे और गर्भवास रूपी बन्दीखाने में दुबारा आने से छुटकारा मिल जाएगा। 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास की प्रकृति और स्वभाव से इन आत्मश्लाघापूर्ण कथनों की संगति मिलना कठिन सा है, क्योंकि 'सूरसागर' में आत्म-विज्ञापन की यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती।

वास्तव में यह 'सूर सारावली' सरस संवत्सर लीला अर्थात् फाग या वसंत लीला के रूप में गाई गई है। आरम्भ में ही कहा गया है—

खेलत यह विधि हरि होरी हो होरी हो वेद विदित यह बात।

तथा

खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।

इस प्रकार होली और फाग की बात कई बार दुहराई गई है और व्यंजित किया गया है कि कृष्ण की समस्त लीला ही नहीं, ब्रह्म की संपूर्ण अवतार लीलाएँ फाग क्रीड़ा ही हैं। फाग और वसंत की लीला 'सूरसागर' में भी है। किंतु 'भागवत' में वर्णित संपूर्ण अवतारों की कथा को फाग रूप में कल्पित करने का विचार 'सूर सारावली' में ही है। दूसरे, 'सारावली' में 'सूरसागर' की अपेक्षा 'भागवत' का अनुसरण अधिक

है। 'भागवत' पर विशेष ध्यान रखने के कारण 'सारावली' में 'भागवत' से इतर 'सूरसागर' के प्रसंग, जो राधा और गोपियों से संबन्धित हैं, अन्य प्रसंगों के बाद, सर्वथा पृथक् रूप में, वर्णित हैं। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'सारावली' में वर्णित राम की कथा आकार और विस्तार में 'सूरसागर' से अधिक है तथा 'भागवत' से भी अधिक विवरणों का संकेत देती है। अतः 'सारावली' अधिक पौराणिक और धार्मिक कृति है। 'सूरसागर' और 'सारावली' के अन्तरों के दिखाए जाने पर यह कहा जाने लगा है कि यह एक स्वतंत्र रचना है—संवत्सर लीला का वर्णन है या पुरुषोत्तम-नाम वर्णन है। किंतु स्वयं 'सारावली' तो अपने को 'सूरसागर' का सार और सूचनिका बताती है! 'सारावली' के कवि ने यत्र-तत्र 'सूरसागर' के पदों की शब्दावली और भावों का अनुकरण भी किया है और इस प्रकार अनेक स्थल समानार्थी और समानरूप दिखाई देते हैं। किंतु इन बाह्य समानताओं से कहीं अधिक बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार के अन्तर हैं। भाषा के शब्द-रूपों और व्याकरण-प्रयोगों के अंतर इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य हैं और, जैसा कि पीछे कहा गया है 'सूर सारावली' की प्रकृति 'सूरसागर' की प्रकृति से बहुत भिन्न है। हस्त-लिखित प्रतियों, जनश्रुतियों, अनुलेखो आदि के रूप में इसकी प्राचीनता का संकेत करने वाली भी कोई साक्षी नहीं है। इन बातों के आधार पर जो तर्कसम्मत निष्कर्ष निकल सकता है वह स्पष्ट है। 'सारावली' सम्भवतः किसी अन्य की कृति है।

सूरदास की तीसरी रचना 'साहित्य लहरी' बताई जाती है।

'साहित्य लहरी की भी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती। नवल किशोर प्रेस, लखनऊ और खड्गविलास प्रेस, **साहित्य लहरी** बांकीपुर, (पटना)—इन दो स्थानों से प्रकाशित 'साहित्य लहरी' की प्रतियाँ उपलब्ध हैं, यद्यपि अब ये अप्राप्य हैं और केवल पुस्तकालयों में मिल सकती हैं। इस रचना की भी विस्तृत समीक्षा किए बिना ही इसे इसके पदों के कारण सूर-दास-कृत माना जाता रहा है। प्रस्तुत लेखक ने इसकी पूर्ण परीक्षा करके अपने 'सूरदास' नामक ग्रंथ में अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि 'साहित्य लहरी' 'सूरसागर' हमारे के कवि सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं है। उसके रचयिता ने पद ११८ में अपना नाम सूरजचंद दिया है और अपनी वंशावली चंदवरदाई से आरम्भ करके अपने को प्रसिद्ध सूरदास घोषित किया है। इस पद की कुछ बातों में युक्ति और तर्क का अभाव तथा अविश्वासनीयता देख कर अधिकांश विद्वानों ने इसे सूर-कृत नहीं माना और 'साहित्य लहरी' में जोड़ा हुआ किसी अन्य का प्रक्षेप माना है। किंतु इस पद-मात्र को सूर-कृत न मान कर शेष 'साहित्य लहरी' को सूर-कृत मानने के लिए कोई प्रबल कारण नहीं हैं। 'साहित्य लहरी' का एक पद १०९ वाँ प्रसिद्ध हुआ है जिसमें रचयिता ने 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल दिया है। वह पद इस प्रकार है—

मुनि पुनि रसन के रस लेष।
दसन गौरी नंद को सुत सुबल संवत पेष।
नंदनंदन मास छे ते हीन त्रितिया बार।
नंदनंदन जनम ते हैं बान सुष आगार।

त्रितिय रिछ सुकर्म जोग बिचारि सूर नवीन ।
नंदनंदन दास हित साहित लहरी कीन ।।१०९।।

पीछे भी कहा गया है कि इस पद में दिए हुए संवत् के सम्बन्ध में मतभेद रहा है। मतभेद 'रसन' शब्द की संख्या के विषय में है। पहले इस शब्द से शून्य ० अर्थ किया जाता था, अर्थात् जिसमे 'रस' नहीं वह शून्य। इधर डाक्टर मुंशीराम शर्मा ने 'रसन' का अर्थ रसना के द्विविध व्यापारो के आधार पर २ अर्थ लिया है। किंतु डा० दीनदयालु गुप्त ने 'रसन' का अर्थ रसना ही लेकर १ संख्या निकालना उचित समझा है। शेष शब्दों से सूचित संख्या इस प्रकार हैं—मुनि = ७, रस = ६, रसन गौरीनंद को सुत = १। इस प्रकार इस रचना की तिथि १६०७, १६२७ अथवा १६१७ निकाली गई है। किंतु यदि ध्यान से देखें तो इस प्रकार अर्थ निकालने से दो भूलें हो जाती है। एक तो 'पुनि' शब्द को छोड़ देना पड़ता है, दूसरे 'रसन के रस' को खंडित करना पड़ता है। यदि ऐसा न करे तो अर्थ अधिक स्वाभाविक होगा और उस दशा मे संख्या इस प्रकार निकलेगी—मुनि = ७, पुनि (पुनः मुनि) = ७; रसन के रस = ६ (रसना के ही रस ६ होते हैं, रस मात्र से तो ९ भी निकाला जा सकता है) और दसन गौरीनन्द कौ सुत = १ अर्थात् १६७७। डाक्टर दीनदयालु गुप्त ने गणितज्ञो से गणना करवा कर तथा इंडियन कलेंडर के आधार पर कहा है कि 'सुबल' संवतू १६१७ के प्रभव संवत् को ही माना जा सकता है। इधर डा० मुंशीराम शर्मा भी १६२७ को सुबल संवत् कहते है। किन्तु चाहे इससे सं० १६०७ निकाला जाए, चाहे

१६१७ या १६२७, समस्या केवल 'साहित्य लहरी' की रचना-तिथि की रह जाती है। हम पीछे कह आए हैं कि 'साहित्य लहरी' के इस कथन की संगति 'सूरसागर सारावली' के 'सरसठ वर्ष प्रवीन' से लगा कर सूर की जन्म-तिथि नहीं निकाली जा सकती, क्योंकि 'सारावली' के लेखक ने इस पंक्ति में 'सारावली' लिखने का समय नहीं, अपितु युगल रूप-दर्शन का समय दिया है। सूरदास का जन्म-संवत् तो १६०७ संख्या और सरसठ वर्ष का पुराना, किन्तु भ्रामक अर्थ मान कर १५४० पड़ भी जाता है, जो उनके सम्भवतः विश्वसनीय जन्म-संवत् १५३५ से अधिक दूर नहीं है, किन्तु १६१७ और १६२७ संख्याओं के आधार पर तो वह बहुत दूर पड़ेगा। जो हो, इस पद में कवि ने अपनी रचना का समय और उसका नाम 'साहित्य लहरी' दिया है तथा यह भी बताया है कि वह 'नंदनंदनदास हित' रची गई। इस पंक्ति के आधार पर प्रवाद चल पड़ा कि सूरदास ने 'साहित्य लहरी' की रचना प्रसिद्ध कवि नंददास के लिए की थी और उसका उद्देश्य था नंददास के पांडित्य-गर्व को चूर्ण करना। सूर जैसे कृष्ण के अनन्य भक्त के लिए यह कल्पना करना कि वे किसी के गर्व को चूर करने के लिए एक ग्रंथ की रचना कर देंगे, बहुत असम्भव लगता है। यदि वह भक्ति-ग्रंथ भावपूर्ण हो, तो भी उसकी रचना के उद्देश्य में अहंभाव आने से भक्ति के सरल भाव में व्यतिक्रम आ जाएगा; किन्तु 'साहित्य लहरी' में तो भक्ति-भाव भी नहीं है। उसका उद्देश्य तो एक विशिष्ट गूढ़ शैली में नायिका-भेद और अलंकार आदि काव्यांगों के लक्षण-उदाहरण देना है। 'नंदनन्दनदास'

से 'नंददास' के स्थान पर नंदनन्दन कृष्ण के आधार कृष्णदास का भी अर्थ लिया गया है और यह शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी युक्तिसंगत लगता है, क्योंकि सूरदास के समय में कृष्णदास अधिकारी का बहुत नाम था। श्रीनाथजी के मन्दिर में उनका इतना प्रभाव था कि एक बार उन्होंने अप्रसन्न हो कर स्वयं विट्ठलनाथा जी को मंदिर-प्रवेश से वंचित कर दिया था। किन्तु यथार्थ यह है कि 'साहित्य-लहरी' की रचना 'सूरसागर' के कवि सूरदास ने की ही नहीं, कृष्णदास या नन्ददास के लिए रचे जाने अथवा काव्यांगों के लक्षण-उदाहरण दे कर भक्ति-काल के भाव प्रधान वातावरण में ही रीतिकालीन जैसी असमर्थ और शिथिल रचना कर डालने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।

भाव, भाषा, शैली, काव्यांग-विवेचन और उदाहरण—किसी भी दृष्टि से 'साहित्य लहरी' ऐसी रचना नहीं है जिस पर गर्व करके सूर जैसा कवि, जो अपने विषय में इतना उदासीन और निरीह है, उसका नाम और रचना-काल घोषित करने बैठता। जैसा कि कह चुके हैं, 'साहित्य लहरी' का उपयोग केवल सूरदास के लिए हुआ है जो उसके पद १०६ और ११८ से प्राप्त होता है। मूल रचना के ११८ पदों में से इन दो के अतिरिक्त शेष ११६ पदों की ओर कभी किसी ने ध्यान नहीं दिया। इन ११८ पदों के अतिरिक्त प्रस्तुत 'साहित्य लहरी' (खड्गविलास प्रेस) में दो परिशिष्ट भी हैं। एक परिशिष्ट संभवतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जोड़ा था जिसमें ४६ पद हैं और दूसरा बाबू चंडी प्रसाद सिंह ने, जिसमें चार पद हैं। ये ५३ पद 'सूरसागर' से

संकलित किए गए हैं ! सम्भवतः इन्हीं पदों के आधार पर यह मिथ्या धारणा चल पड़ी है कि 'साहित्य लहरी' 'सूरसागर' के ही दृष्टकूट पदों का संग्रह है। यह धारणा भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र की भी थी, जिसके कारण उन्होंने ४९ पदों का एक परिशिष्ट जोड़ा। वास्तव में उनका ध्यान इस रचना के ११८वें पद ने विशेष आकृष्ट किया था, क्योंकि उसमें उन्हें सूर के सम्बन्ध में अभूतपूर्व परिचय मिला था। किंतु शीघ्र ही बाबू राधाकृष्णदास ने 'साहित्य लहरी' और 'सूरसागर' के दृष्टकूट पदों का मिलान करके निर्णय कर दिया था कि 'साहित्य लहरी' के पद सूरसागर में नहीं मिलते। सम्भवतः हिंदी के विद्वानों का ध्यान 'राधाकृष्ण ग्रंथावली' के तत्संबंधी लेख (पृष्ठ ४७२) की ओर नहीं गया, नहीं तो उनके बीच यह प्रवाद नहीं चलना चाहिए था कि 'साहित्य लहरी' 'सूरसागर' के ही दृष्टकूट पदों का संकलन है। 'साहित्य लहरी' के दो परिशिष्टों के आधार पर ही विद्वानों को ११८वें पद को प्रक्षिप्त मानने का भी कारण मिल गया। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने कहा कि जिस प्रकार ११८वें पद के बाद वाले पद बाद में मिलाए हुए हैं, उसी प्रकार १०९वें से ११८वें तक के पद बाद में जोड़े गए हैं जिनमें ११८वाँ पद सूरदास का नहीं है, किंतु वास्तविक स्थिति यह है कि ११८वें पद तक 'साहित्य लहरी' एक अखंडित रचना के रूप में दिखाई देती है। उसके बाद (क) और (ख) स्पष्ट नाम दे कर परिशिष्ट जोड़े गए हैं। परिशिष्टों के पद निस्संदेह 'सूरसागर' से संकलित हैं, अतः उन्हें हम 'साहित्य लहरी' से भिन्न मान सकते हैं।

'साहित्य लहरी' के ११६ पदो में से १०४ पदों में स्पष्ट रूप से किसी न किसी काव्यांग का उल्लेख कर दिया गया है। शेष बारह पदों मे यद्यपि किसी पारिभाषिक शब्द का उल्लेख नहीं है, तथापि उनका विषय भी नायिका-भेद आदि ही है। काव्यांग-वर्णन में 'साहित्य लहरी' के कवि ने परंपरानुसार विशेषतया राधाकृष्ण तथा सामान्यतया कृष्ण संबंधी कथा प्रसंगों को चुना है। फिर भी ३८ पद ऐसे है जिनमें कृष्ण, राधा आदि का उल्लेख भी नहीं है, उनका विषय साधारण नायिका-भेद और शृंगार आदि से संबंधित है। जिन पदों मे राधा, कृष्ण आदि का उल्लेख हुआ है, उनका भी विषय अधिकाश में सामान्य शृंगारिक ही है। उनमे भक्ति-भावना की वह उत्कृष्ट अनुभूति कही नहीं मिलती जो सूर के प्रत्येक पद में मिलनी चाहिए। सूरदास के 'सूरसागर' वाले दृष्टकूट पदों मे इस गूढ-गोपन और रहस्य-जैसी शैली का व्यवहार ऐसे स्थलो पर किया गया है जिन्हें कवि या तो किसी उच्च भाव-दशा के कारण साधारण शब्दों मे नहीं लिख सकता अथवा उन्हे अद्भुत चमत्कार से परिवेष्टित करना चाहता है, क्योंकि उनका स्पष्ट शब्दों मे वर्णन औचित्यपूर्ण नही है। 'सूरसागर के प्रायः समस्त दृष्टकूट पद उनकी उच्च कला-कुशलता, परिपक्व कवित्व-शक्ति और गूढ़ अनुभव को प्रकट करते है। इन पदों की भाषा अत्यन्त परिमार्जित, समस्त-पद-युक्त और तत्सम-प्रधान है, परन्तु 'साहित्य लहरी' की शैली शिथिल, असमर्थ, असंस्कृत और किसी अंश मे अत्यंत असाहित्यिक है। 'साहित्य लहरी' के कवि की प्रवृत्ति असफल और असमर्थ, रीतिकालीन कवियो जैसी है। इस

प्रवृत्ति का हमारे महान् भक्त कवि के भाव-जगत् में कोई स्थान नहीं है। नंददास की नायिका-भेद विषयक रचना 'रसमंजरी' में कवि की साहित्यिक सुरुचि, शैली प्रांजलता और सुसंस्कृति के समक्ष 'साहित्य लहरी' अत्यन्त निम्न कोटि की रचना जान पड़ती है। उसके आधार पर नंददास का गर्व चूर करना तो दूर, नंददास के निकट जाने का भी साहस नहीं किया जा सकता। नंददास की 'रसमंजरी में' भक्ति की व्यंजना भी कहीं अधिक है।

वास्तव में 'साहित्य लहरी' का रचियता ११८ वें पद में अपना परिचय देने वाला कोई सूरजचन्द नाम का ब्रह्मभट्ट है। उसने अपने को एक ओर चंद वरदाई का वंशज घोषित किया है और दूसरी ओर सूरदास से अभिन्न सिद्ध करना चाहा है, किन्तु सूरजचंद नाम का 'सूरसागर' में कहीं प्रयोग नहीं हुआ, इसीलिए उसने कहा कि स्वयं श्रीकृष्ण ने उसका नाम 'सूरजदास' और 'सूरस्याम' रखा। यह सूरज-चंद नामक ब्रह्मभट्ट कवि अनुमानतः रीतिकाल के पूर्व नहीं हुआ होगा, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति रीतिकालीन कवियों का अनुकरण भर करने की है, पूर्वगामी वह नहीं हो सकता, भले ही 'मुनि पुनि रसन के रस लेष' आदि में कोई भी तिथि निकलती हो उस पद का उद्देश्य तो 'साहित्य लहरी' को सूर की कृति के रूप में प्रसिद्ध करना है। 'साहित्य लहरी' को सूर की कृति मानने में न तो हमें सूर की साहित्यिक प्रतिभा के संबंध में कोई महत्त्वपूर्ण प्रमाण मिलता है और न उनके जीवन-वृत्त के संबध में विश्वसनीय साक्षी; उलटे उससे महान् भक्त कवि के भक्ति-भाव में एक अनावश्यक और निराधार व्यक्तिक्रम का आभास मिलता है।

'सूरसागर सारावली' और 'साहित्य लहरी' के अतिरिक्त कुछ और रचनाएँ भी सुरदास की बताई जाती हैं। किन्तु उनमें से कुछ ऐसी हैं जो किसी अन्य सूरदास अथवा सूरजदास कवि की हैं

अन्य

जैसे, 'नल दमन' या 'नल दमयन्ती' नाम की रचना किसी सूफ़ी भक्त सूरदास की है, 'हरिवंश टीका' संस्कृत में सम्भवतः किसी दक्षिणी सूरदास की है,'रामजन्म' और 'एकादशी माहात्म्य' नामक दो रचनाएँ सम्भवतः किसी सूरदास नामक भिन्न कवि की हैं। कुछ रचनाएँ 'सूरसागर' की अंश मात्र हैं, केवल वे अलग करके प्रकाशित (लिखित या मुद्रित रूप में) कर दी गई हैं, जैसे 'भागवत भाषा' और 'दशमस्कंध टीका' नाम से 'सूरसागर' के ही अंश प्रसिद्ध हुए हैं, 'सूरदास जी के पद' भी 'सूरसागर' के ही चुने हुए पद हैं, 'नागलीला' कालियदमन वाले प्रसंग की कथा 'सूरसागर' का ही अंश है, इसी प्रकार, 'गोवद्धन लीला', 'सूरपच्चीसी', 'प्राणप्यारी' ('श्याम सगाई') और 'ब्याहलो' 'सूरसागर' के ही अंश हैं। 'सूरसागर सार' संभवतः 'सूरसागर' के रामकथा संबंधी पदों का संग्रह है तथा 'सूरशतक' कदाचित् 'साहित्य लहरी' का कोई रूप है। वस्तुतः सूरदास की एक मात्र प्रामाणिक कृति 'सूरसागर' है, जिस पर उनकी अमर कीर्ति स्थिर है। 'सूरसागर' में भी अनेक पद अन्य कवियों के प्रक्षिप्त होंगे, ऐसा हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं। उनमें कुछ पद सूरदास मदन मोहन और परमानन्द दास के इंगित भी किए जा सकते हैं। रासवर्णन के अंतर्गत **'सरद सुहाई आई राति, दहदिसि फूलि रही बन जाति॥ देखि त्याम मन अति सुख भयौ'** ॥ से आरम्भ होने

वाला और 'हरि बंसी हरिदासी जहाँ हरि करुना करि राखौ तहां। नित बिहार आभार दै॥ कहत सुनत बाढ़त रस रीति। वक्ता स्रोता हरि पद प्रीति॥ रास रसिक गुन गाइहो॥'(१७६८) पर समाप्त होने वाला लंबा प्रसंग, जिसमें संपूर्ण रास पंचाध्यायी की कथा दूसरी बार कही गई है, सम्भवतः हरिवंशी संप्रदाय के श्री व्यास जी की रचना है, जो 'सूरसागर' में सम्मिलित हो गई है। इस प्रकार 'सूरसागर' के सम्यक् संपादन की अतीव आवश्यकता है। वस्तुतः सूर की वास्तविक समीक्षा तभी पूर्ण रूप से संतोषजनक कही जा सकेगी, फिर भी यह विश्वास किया जा सकता है कि प्रस्तुत 'सूरसागर' के आधार पर किए गए वैज्ञानिक अध्ययन में संभवतः कोई मौलिक अंतर नहीं आएगा।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम निःसंकोच कह सकते हैं कि 'सूरसागर' ही सूरदास की असंदिग्ध प्रामाणिक रचना है। सूरदास की कीर्ति उसी पर निर्भर है।

विषय-वस्तु

यही नहीं, भक्ति और साहित्य के क्षेत्रों में उत्तर भारत और विशेष रूप से हिंदी भाषी प्रदेशों में कृष्ण और राधा-कृष्ण की जिस भावमयी कथा का लोक-व्यापी प्रचलन है, उसका आधार मुख्यतः 'सूरसागर' ही है। सूरदास ने भागवत में वर्णित कृष्ण-कथा को जो विस्तार तथा भावात्मक संपत्ति प्रदान की भावुक भक्तों तथा कवियों के मन उसमें इतने तल्लीन हो गए कि वे भूल गए कि यह कथा श्रीमद्भागवत से कथा-प्रसंग तथा भावना, दोनों दृष्टियों से काफ़ी भिन्न है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि भागवत की कृष्ण-कथा में सूरदास ने अपनी भावना के अनुसार जो संशोधन और परि-

वर्द्धन किए, उनका आधार वह लोक-व्यापी राधा-कृष्ण वार्ता थी जो पहले से ही जन-मन पर अधिकार किए हुए थी। तथ्य जो भी हो, 'सूरसागर' में वर्णित कृष्ण लीला ही गत तीन-चार सौ वर्षों से कृष्ण-भक्ति तथा कृष्ण-काव्य की उपजीव्य रही है।

'सूरसागर' की कृष्ण लीला कृष्ण के जन्म तथा उनके गोकुल में प्रकट होने के वर्णन से प्रारंभ होती है। जन्म और शैशवकाल के विभिन्न संस्कारों का वर्णन करते हुए सूरदास कृष्ण के उत्तरोत्तर बड़े होने का क्रमिक और स्वाभाविक चित्रण करते जाते हैं और बीच-बीच में कंस के भेजे हुए असुरों के उपद्रवों का इस प्रकार उल्लेख करते जाते हैं जिससे शिशु और बालकृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव दृढ़ होता जाता है तथा अलौकिकता की व्यंजना के द्वारा उसे उदात्त रूप मिलता जाता है। कृष्ण के शैशव और बाल्यकाल की लीलाओं में जन्म, गोकुल में प्राकट्य, नाल छेदन, छठी व्यवहार, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन, घुटनों चलने, पाँवों चलने, चंद्र प्रस्ताव, माटी भक्षण, माखन चोरी, दाँवरिबंधन तथा धेनु दोहन सीखने की सरल स्वाभाविक लीलाओं के साथ साथ पूतना, कागासुर, शकटासुर और तृणावर्त के वध तथा श्रीधर के अंग-भंग, पांडे आगमन, शालग्राम-प्रसंग और यमलार्जुन उद्धार की अलौकिक माहात्म्यसूचक लीलाएँ कुशलतापूर्वक संग्रहीत हैं। बीच बीच में सोने, जागने, नहाने, भोजन करने, घर तथा गाँव की गलियों में खेलने की दिनचर्या तथा कृष्ण-छवि-दर्शन के विवरण-चित्रण इन लीलाओं की स्वाभाविक पृष्ठभूमि निर्मित करने के लिए दिए गए हैं। शैशव और बाल्यकाल

की यह, सम्पूर्ण लीला गोकुल में होती है। उसका प्रधान उद्देश्य यशोदा, नंद तथा अन्य समानवय ब्रजवासियों के मन में वात्सल्य की पुष्टि है, यद्यपि यत्र-तत्र-विशेष रूप में माखनचोरी प्रसंग में—माधुर्य का आभास मिलने लगता है।

कंस के भेजे हुए असुरों के उपद्रवों से बचने के लिए जब गोकुल-वासी वृंदावन में जा बसते हैं, तब कृष्ण की लीला का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। उनकी दिनचर्या में गोदोहन तथा गोचारण भी सम्मिलित हो जाता है। गोचारण के प्रसंग में वे वत्सासुर, वकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, शंखचूड, वृषभासुर, केशी, व्योमासुर का वध करते हैं; ब्रह्मा, इंद्र और वरुण के भ्रम और अहंकार को दूर करते हैं तथा कालिय-दमन और दावानल पान करते हैं परंतु इन अलौकिक माहात्म्य सूचक लीलाओं का कवि की दृष्टि में स्वतः कोई महत्त्व नहीं है, वे तो गोचारण के प्रसंग में वर्णित कृष्ण की उन क्रीडाओं को विस्मय भाव के सहारे उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य दी गई हैं जो सख्य की व्यंजक और पोषक हैं। परंतु वृंदावन लीला के अंतर्गत इनसे कहीं अधिक विस्तार राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण के प्रेमोदय और प्रेम-विकास सम्बंधी मधुर भाव के पोषक अनेकानेक प्रसंगों का है।

यद्यपि ब्रज की किशोरी कुमारियाँ तथा नवोढाएँ कृष्ण को उनके शैशव काल से ही स्वतः काम भाव से प्रभावित होने के कारण मधुर भाव से देखती हैं और सूरदास इसका संकेत करते जाते हैं, परंतु माखन-चोरी लीला के पहले उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। माखनचोरी

लीला में भी उसका अंकुर मात्र दिखाई देता है, विकसित तथा पल्लवित वह तभी होता है जब कृष्ण किशोर-लीला करने लगते हैं। वृन्दावन लीला में ही वह अवसर आता है और सूरदास उसका विधिवत प्रारंभ कृष्ण के चकई भौंरा खेलने के समय राधा-कृष्ण के आकस्मिक मिलन के रोमांसपूर्ण प्रसंग के साथ करते हैं। इसके उपरांत विविध प्रकार की विभिन्न घटनाओं के बीच राधा-कृष्ण मिलन के अनेक प्रसंग आते हैं जिनमें गारुड़ी लीला का प्रसंग प्रथम मिलन के बाद अत्यंत नाटकीय है। राधा-कृष्ण के इस गुप्त प्रेम का प्रभाव अन्य गोपियों पर ऐसा पड़ता है कि वे कृष्ण-प्रेम को प्राप्त करने की लालसा में घर-बार की सुध भूल जाती हैं और नित्य यमुना-स्नान करके शिव और सूर्य की आराधना करते हुए यह वरदान मांगती हैं कि उन्हें कृष्ण पति के रूप में प्राप्त हों। कृष्ण उनकी भावना का आदर करके तथा उनके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए उनके चीर हरते हैं; और जब वे यह प्रमाणित कर देती हैं कि कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति के लिए वे लज्जा-संकोच का त्याग कर सकती हैं, तब कृष्ण वर्ष भर बाद उनके साथ रासक्रीड़ा करने का वचन देते हैं।

इस बीच गोपियों के प्रेम को विकसित करने के उद्देश्य से कृष्ण पनघट लीला और दानलीला का उपक्रम करते हैं, जिनके परिणाम स्वरूप गोपियाँ अनेक उपायों से कृष्ण-दर्शन तथा कृष्ण मिलन की कामना पूर्ण करना चाहती हैं। इन समस्त लीलाओं में राधा गोपियों के केन्द्र में रहती है तथा अन्य गोपियाँ जानने लगती हैं कि उसका कृष्ण प्रेम आदर्श है तथा कृष्ण ने गुप्त रूप में उसे अवश्य ही

अपना लिया है। राधा के गुप्त प्रेम और अन्य गोपियों के कृष्ण-प्रेम के बीच आदर्श और अनुकरण का स्पर्धापूर्ण संघर्ष चित्रित करने के लिए सूरदास ने ग्रीष्मलीला, यमुना विहार, अनुराग समय, नयन समय, आँखियाँ समय तथा राधा के लघु मान के प्रसंगों का विस्तार से वर्णन किया है।

कृष्ण के वंशी-वादन के अनेक प्रसंग वृन्दावन की गोचारण लीला में इस रूप में दिए गए हैं कि जिससे वंशी-वादन के लोकोत्तर प्रभाव की व्यापकता भरपूर व्यंजित हो जाय। साथ ही, गोचारण से लौटते हुए कृष्ण के नटवर वेष का ऐसा विशद चित्रण हुआ है जिससे गोपियों पर उसके प्रभाव की अनिवार्यता सिद्ध हो जाय। मुरलीधारी नटवर श्याम का गोपाल रूप सभी का चित्त हरता है, यहाँ तक कि कर्मकांडी याज्ञिक ब्राह्मणों की पत्नियाँ अपने पतियों की अवहेलना करके कृष्ण के दर्शन के लिए घरों से निकल पड़ती हैं कृष्ण के शोभा-सौंदर्य तथा मुरली-माधुर्य का जब ऐसा व्यापक प्रभाव है तब यह स्वाभाविक ही है कि जब वे शरद् पूर्णिमा की रात्रि को यमुनातट के निकुंजों के बीच मादक वंशी-ध्वनि करते हैं तो ब्रज की गोपियाँ अनायास उनकी ओर खिंच जाती हैं। कृष्ण पुनः उनके प्रेम की परीक्षा लेते हैं और जब उन्हें विश्वास हो जाता है कि गोपियों के मन में अहंभाव नहीं है, तभी उन्हें रासक्रीड़ा का सुख देते हैं। रासक्रीड़ा के बीच जहाँ उन्हें संदेह हो जाता है कि गोपियों के मन में अहंकार आ गया है, भले ही वह अहंकार कृष्ण-प्रेम को प्राप्त कर लेने के आत्म-विश्वास का ही परिणाम क्यों न हो, वहीं वे अंतर्धान हो जाते हैं, तथा तभी प्रकट होते हैं, जब गोपियों का

अहंकार विरह की अग्नि में भी जल जाता है। इस प्रसंग में भी राधा-गोपियों के केन्द्र स्थल में विराजती हैं तथा रास का सर्वाधिक सुख उन्हीं को मिलता है। यही नहीं, सूरदास वन-भूमि के मनोहर वातावरण में कृष्ण के साथ उनका विवाह भी रचाते हैं और इस प्रकार उनके परकीया प्रेम की परिणति स्वकीया रति के रूप में कर देते हैं।

इसके बाद तो कृष्ण-लीला राधा-कृष्ण की दाम्पत्य-लीला के रूप में चलने लगती हैं। राधा के लघु, माध्यम और बृहद् मान के प्रसंगों तथा खंडिता समय के वर्णन का उद्देश्य ही सिद्ध करता है कि राधा का कृष्ण-प्रेम ही आदर्श प्रम है, अन्य गोपियाँ उसकी गूढ़ता को समझने तथा उसकी निकटता को पाने का यत्न करते हुए अपना जीवन अवश्य सार्थक करती हैं, परंतु उसे पा सकना कहाँ संभव है? अन्य गोपियों का राधा के प्रति स्पर्धा भाव समाप्त हो जाता है, वे राधा कृष्ण की दाम्पत्य-रति के संयोजन और संपादन में योग देना ही अपना अहोभाग्य मानती हैं। कृष्ण उनके प्रेम का आदर करके फाग और होली की लीला के रूप में उन्हें जिस स्वच्छंद और उच्छल आनंद का अनुभव कराते हैं वही मानो अलौकिक परमानंद का सामूहिक प्रत्यक्षीकरण है।

संयोग-सुख के इस विस्तृत वर्णन-चित्रण के बाद अक्रूर के साथ कृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन किया गया है। सूरदास रजक, कुवलयापीड, मुष्टिक, चाणूर और कंस के वध का वर्णन अवश्य करते हैं, क्योंकि उसके बिना उनके उद्दिष्ट वर्णन की सार्थकता ही संभव नहीं है, परंतु उनकी वास्तविक रुचि तो नन्द, यशोदा, गोप और

गोपियों के वियोग की अनुभूति कराने में ही है। कृष्ण के कुब्जा प्रेम, उनके श्याम वर्ण, पथिक के बहाने, स्वप्न-दर्शन, वर्षा और शरद के प्राकृतिक सौन्दर्य तथा कृष्ण के क्रीड़ा-स्थलों तथा क्रीड़ा-उपकरणों को ले कर गोपियों के विरह का जो वर्णन किया गया है वह उनके कृष्ण-प्रेम की गंभीरता और तीव्रता का अप्रतिम उदाहरण है। वियोग के इस लम्बे प्रसंग तथा उद्धव-गोपी संवाद और भंवरगीत के वियोग संबन्धी आगामी प्रसिद्ध प्रसंग के बीच मथुरा की अनेक घटनाओं का व्यवधान है, परन्तु सूर का प्रेम-वियोग की भावधारा में तल्लीन हो कर हम प्रायः उनकी उपेक्षा कर जाते हैं वियोग के इस दूसरे सर्वाधिक लम्बे प्रसंग में वियोग की तीव्रता से भी अधिक उसकी महत्ता का प्रतिपादन सूरदास का अभीष्ट है और उसे सिद्ध करने में वे पूर्णतया सफल हुए हैं।

मथुरा-प्रवास के उपरांत कृष्ण जरासंध के आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप द्वारका चले जाते हैं। द्वारका की लीला में कालयवन, शत-धन्वा, भौमासुर, पौंड्रक, सुदक्षिण, द्विविध, जरासंध, शिशुपाल, शाल्व, दंतवक्र और भस्मासुर के वध, मुचुकुंद और नृग के उद्धार, रुक्मिणी जांबवती, सत्यभामा पंच आदि पटरानियों के विवाह, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, सांब और सुभद्रा के विवाह तथा नारद-संशय, पांडव-यज्ञ, सुदामा-चरित देवकी-पुत्र आनयन तथा शंखचूड़-पुत्र आनयन आदि अनेक प्रसंगों का उल्लेख है। परंतु सूरदास संहार, उद्धार और राजनीति की घट-नाओं में कोई रुचि नहीं रखते, अतः वे उनका चलताऊ उल्लेख मात्र करके उनमें से केवल द्वारका-प्रवेश रुक्मिणी-विवाह और सुदामा-

चरित का विस्तार से वर्णन करते हैं, क्योंकि इन्हीं प्रसंगों में उन्हें अपनी भक्ति-भावना व्यक्त करने का अवसर मिलता है। यह भक्ति-भावना प्रधानतः दैन्यभाव की है; इसमें उनकी स्वाभाविक तल्लीनता नहीं है।

अतः वे पुनः ब्रजनारियों के विरह का सूत्र उठा कर कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर कृष्ण और ब्रजवासियों के मिलन का वर्णन करते हुए मानो अपने भाव की समतल भूमि पर आ जाते हैं। यहाँ अत्यंत नाटकीय ढंग से राधा और रुक्मिणी के प्रेम-भाव का अंतर दिखाते हुए वे राधा-कृष्ण के कीट-भृंग की भाँति एकाकार मिलने का वर्णन करके इस प्रेम काव्य की समप्ति करते हैं।

सूरदास द्वारा वर्णित यह कृष्णलीला स्वाभाविक गति से अग्रसर होते हुए किस प्रकार राधा-कृष्ण की आनंदमयी लीला में परिणत हो जाती है तथा पदों की प्रगीत मुक्तक शैली में रचे जाने पर भी उसमें प्रबंध की एकसूत्रता बनी रहती है, इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया है। सूरदास का काव्य प्रमुखतः यही है।

कृष्ण और राधा कृष्ण लीला के अतिरिक्त सूरदास ने विनय तथा भक्ति और रामचरित संबंधी पदों की रचना की है। उनके विनय के पद तो बहुत प्रसिद्ध हैं और उनके पद संग्रहों में प्रायः सबसे पहले रखे जाते हैं। निश्चय ही उनके द्वारा भक्ति की एक पुष्ट भूमिका का निर्माण होता है। भागवत की अनेक कथाओं से प्रसंग चुन कर सूरदास ने जो पद-रचना की है उसका उद्देश्य भी भक्ति की

भूमिका निर्मित करना ही है और यही उद्देश्य सामान्यतः रामचरित संबंधी स्फुट पदों का भी है।

कृष्ण-लीला के वर्णन में भी सूरदास का यह उद्देश्य प्रसंगवश यत्र तत्र प्रकट हो गया है। इन सभी पदों में दैन्य और विनय की पवित्र धारा प्रवाहित होती है।

मूल प्रेरणा

पंद्रहवीं, सोलहीं शताब्दियों के हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के काव्य का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक अनूठा स्थान है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह जनता के जीवन का काव्य है। यह वह समय था जब कई शताब्दियों में दबी हुई सामाजिक चेतना एक व्यापक धार्मिक आंदोलन के रूप में प्रकट हुई थी। पीछे उस धार्मिक आंदोलन की रूपरेखा दी गई है। कृष्ण-भक्ति ने जिस निरुद्देश्य और सारहीन जीवन को नवीन जागरण प्रदान किया था, उसका थोड़ा-बहुत परिचय हमें स्वयं 'सूरसागर' के कुछ पदों से मिल जाता है। मनुष्य संसार की विषय-वासनाओं में इतना लिप्त था कि उसके सम्मुख कोई आदर्श ही नहीं रह गया था। ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों के वशीभूत हो कर वह हिंसा, मद और मोह में पड़ा हुआ झूठी आशाओं में लीन रहता था, आहार-निद्रा ही मानो उसके अंतिम लक्ष्य थे। सूरदास कहते हैं—

भक्ति की पृष्ठभूमि

अब हौं माया हाथ बिकानौ।
परबस भयौ पसू ज्यों रजु बस, भज्यौ न श्रीपति रानौ।
हिंसा मद ममता रस भूल्यौ, आसा ही लपटानौ।
यही करत आधीन भयौ हौं, निद्रा अति न अघानौ।

अपने ही अज्ञान तिमिर मैं, बिसर्यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहूँ मैं कछु कानौ ।।४७।।

उस युग के मनुष्य के सम्मुख केवल एक ही आदर्श था—हरि-भक्ति। किन्तु उसमें मन लगाना सहज न था। विषय-वासना का आकर्षण उस आदर्श को अपनाने में बाधक होता था; फिर भी संसार की मानसिक यातना से छूटने की आशा करके लोग संन्यास ले लेते थे, यद्यपि संन्यास लेने के बाद भी संसार के प्रलोभनों से मुक्ति नहीं मिल पाती थी। स्वामी के रूप में वैभव और कीर्ति के संचय की तृष्णा नित्य बढ़ती जाती थी। सूरदास कहते हैं—

किते दिन हरि सुमिरन बिन खोए।
परनिंदा रसना के रस करि केतिक जनम बिगोए।
तेल लगाइ कियौ रुचि मर्दन, बस्तर मलि मलि धोए।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै बिषयिनि के मुख जोए।
काल बली तैं सब जग काँप्यौ ब्राह्मदिक हूँ रोए।
सूर अधम की कहौ कौन गति, उदर भरे परि सोए।

इसी प्रकार 'उदर भरने' में सारा जीवग बीत जाता और मनुष्य भजन-भाव के नित्य नए संकल्प करता, किंतु उन्हें कभी पूरा न कर पाता और उसका अंत समय आ जाता था। तब उसे अपनी विफलता का ज्ञान होता था—

कहत हे आगैं जपिहैं राम।
बीचहिं भई और की औरै, पर्यौ काल सौं काम।
गरभ-बास दस मास अधोमुख, तहँ न भयौ बिस्राम।

बालापन खेलत ही खोयौ, जोबन जोरत दाम।
अब तौ जरा निपट नियरानी, कर्‌यौ न कछुवै काम।
'सूरदास' प्रभु कौं बिसरायौ, बिना लिए हरि-नाम ।।५७।।

संसार का धन-वैभव मनुष्य को इतना अंधा बना देता था कि वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भी ध्यान न रखता था; विषयों और ऐन्द्रिय वासनाओं से ही उसके जीवन की समस्त गतिविधि शासित होती थी—

जनम साहिबी करत गयौ।
काया नगर बड़ी गुंजाइस, नाहिं न कछू बढ़्यौ।
हरि कौ नाम दाम खोटे लौं, झकि झकि डारि दयौ।
विषया-गाँव अमल कौ टोटौ, हँसि-हँसि कै उमयौ।
नैन अमीन, अर्धामिन कै बस, जहँ कौ तहाँ छयौ।
दगाबाज कुतबाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ।
पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ, धर्म सुधन लुटयौ।
चरनोदक कौ छाँड़ि सुधा-रस, सुरापान अँचयौ।
कुबुधि-कमान चढ़ाइ कोप करि, बुधि-तरकस रितयौ।
सदा सिकार करत मृग मन कौ, रहत मगन भुरयौ।
घेर्‌यौ आइ कुटुम लसकर मैं, जम अहदी पठयौ।
'सूर' नगर चौरासी भ्रमि-भ्रमि, घर-घर कौ जु भयौ ।।६४।।

जन्म-जन्मान्तर मनुष्य इसी प्रकार विषयों में भटकता रहता और 'कूकर-सूकर' की तरह उदर भरता और स्त्री-सुख में भूला रहता था, अंत में उसकी यह गति होती थी—

....सुतन तज्यौ, तिय तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तैं त्वच भई न्यारी।
स्रवन न सुनत चरन गति थाकी, नैन भए जल धारी।
पलित केस कफ कंठ विरुंध्यौ, कल न परति दिन-राती।
माया-मोह न छाँड़ै तृष्ना, ये दोऊ दुख-थाती....॥११८॥

वृद्धावस्था में इस निरुद्देश्य जीवन का दुःख कितना सताता है, इसका वर्णन कवि ने कई पदों में किया है—

१. सबै दिन गए विषयन के हेत।
तीनौं पन ऐसैं ही खोए, केस भए सिर सेत।
आँखिन अंध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत॥२६६॥

२. अब मैं जानी देह बुढ़ानी।
सीस पाउँ कर कह्यौ न मानत, तन की दसा सिरानी।
आन कहत आनै कहि आवत, नैंन नाक बहै पानी।
मिटि गई चमक-दमक अँग-अँग की, मति अरु दृष्टि हिरानी।
नाहिं रही कछु सुधि तन-मन की, भई जु बात बिरानी।
'सूरदास' अब होति बिगूचनि, भजि लैं सारंगपानी॥३०५॥

वृद्धावस्था में जिनकी यह दशा होती, वे अपने जीवन का बहुमूल्य समय इस प्रकार के निरर्थक व्यापार में गँवाते थे—

झूठे ही लगि जनम गँवायौ।
भूल्यौ कहा स्वप्न के सुख मैं, हरि सौं चित न लगायौ।
कबहुँक बैठ्यौ रहसि-रहसि कै, ढोटा गोद खिलायौ।
कबहुँक फूलि सभा मैं बैठ्यौ, मूंछनि ताव दिवायौ।

टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी, टेढ़े-टेढ़े धायौ ।

'सूरदास' प्रभु कौं नहिं चेतत, जब लग काल न आयौ ॥३०१॥

और, उन दिनों की धार्मिकता क्या थी ? इसके कई चित्र सूरदास ने दिए हैं—

....जरत ज्वाला गिरत गिरि तैं, स्वकर काटत सीस ।

देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस ।

कामना करि कोटि कबहूँ, किए बहु पसु-घात ।

सिंह-सावक ज्यौं तजै गृह, इंद्र आदि डरात.... ॥१०६॥

जप-तप का आडंबर बहुत था, परन्तु मन के विकारों का कोई निरोध न था। इसीलिए शिव-शंकर की भक्ति भी सहायक न थी, उसमें केवल हिंसा को पोषण मिलता था तथा पापाचार की वृद्धि होती थी। धर्म के नाम पर ढोंग और पाखंड बढ़ रहा था। इस पाखंड का एक रूप शैवोपासना में था, जिसका संकेत उपर्युक्त पंक्तियों में है। एक दूसरा रूप गोरखपंथी जोगियों के अलखवाद तथा कबीरपंथी साधुओं के निर्गुणवाद में मिलता था जिनका उपहास गोपियों के द्वारा 'भ्रमरगीत' में कराया गया है।

यद्यपि सूरदास के उद्धव उन सभी भक्ति-बाह्य धर्ममतों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो उस समय प्रचलित थे, परन्तु उनके मुख्य लक्ष्य जोगी और निर्गुणवादी ही हैं। गोपियों को दिए गए उद्धव के उपदेश तथा गोपियों के प्रत्युत्तर यही सिद्ध करते हैं कि सूरदास उस प्रेम-भक्ति के धर्म को जिसका चरम रूप गोपियों के कृष्ण-प्रेम में प्रकट हुआ है

गोपियों और निर्गुणियों द्वारा प्रचारित लोकधर्म के समानान्तर ला खड़ा करते हैं तथा प्रेम भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हैं।

अपने समय के आदर्श-हीन, उद्देश्य-हीन जीवन की निःसारता का अनुभव अनुमानतः सूरदास को यौवन के पूर्व ही हो गया था।

कृष्ण-भक्ति का वरदान

किन परिस्थितियों में वे विरक्त हो गए, इसे जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है, हम केवल इतना जानते हैं कि वे ३०-३२ वर्ष की अवस्था तक एक संभ्रांत संन्यासी के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। उनके अनेक सेवक थे और वे गऊघाट पर भगवद्भजन करते हुए जीवन बिताते थे। निश्चय ही इस अवस्था में भी उन्हें संतोष नहीं था। यहाँ भी वे सांसारिक विषय-वासना के सर्वव्यापी प्रभाव के आंतक से मुक्त नहीं हुए थे। वे धार्मिकता का उपदेश देते थे और उन करुणा-मय हरि से उद्धार करने की विनय करते थे जो भक्तों के कर्म-अकर्म का विचार किए बिना ही उन्हें तार देते हैं। उनका मन अत्यन्त दीन और कातर था, क्योंकि मन को विषयों से विमुख करने में सफलता मिलती नहीं दिखाई देती थी। बार बार उन्हें यही विचार सताता था कि—

मेरौ मन मतिहीन गुसाईं।
सब सुख-निधि पद कमल छाँड़ि, स्रम करत स्वान की नाईं।
फिरत बृथा भाजन अवलोकत, सूनैं सदन अजान।
तिहिं लालच कबहूँ कैसे हूँ, तृप्ति न पावत प्रान।
कौर कौर कारन कुबुद्धि जड़, किते सहत अपमान।

जहँ जहँ जात तहीं तहिं त्रासत, अस्म लकुट पदत्रान।

तुम सर्वज्ञ, सबै बिधि पूरन, अखिल भुवन निज नाथ।

तिन्हैं छाँड़ि यह सूर महा सठ, भ्रमत भ्रमनि के साथ ॥१०३॥

सूरदास के मन में शारीर धर्म और आध्यात्मिक आदर्श के बीच घोर संघर्ष था। इसीलिए उन्होंने मन की विषयोन्मुख प्रवृत्ति का इतना अतिरंजित चित्र खींचा है। उनके शब्दों का अभिधार्थ नहीं लिया जा सकता, केवल वे उस उच्च आदर्श को पाने में मनुष्य को असमर्थ सा मानते हैं जो जीवन को सार्थक बनाने का एक साधन है। उन्हें इस घोर असमर्थता की अवस्था में केवल एक आश्रय दिखाई देता था, और वह था भगवान् की असीम कृपा। बारम्बार वे इसी कृपा की याचना करते हुए देखे जाते हैं—

कृपा अब कीजिए बलि जाउँ।

नाहिंन मेरैं और कोउ, बलि, चरन-कमल बिन ठाउँ।

हौं असौच, अक्रित, अपराधौ, सनमुख होत लजाउँ।

तुम कृपाल, करुनानिधि केसव, अधम उधारन नाउँ।

काकैं द्वार जाइ होउँ ठाढ़ौ, देखत काहि सुहाउँ।

असरन-सरन नाम तुम्हरौ, हौं कामी कुटिल निभाउँ।

कलुषी अरु मन मलिन बहुत मैं, सेंत-मेंत न बिकाउँ।

'सूर' पतित पावन पद-अम्बुज, सो क्यों परिहरि जाउँ ॥१२८॥

मनुष्य के पास उसके सांसारिक जीवन में वे स्वयं कोई पूँजी नहीं देखते, यदि कुछ पूँजी है भी तो वह पापों की ही पूँजी है। वे सोचते हैं कि सम्भव है इसी पूँजी को देख कर उनके पतित-पावन भगवान्

उनका उद्धार कर दें, क्योंकि उन्होंने गज, गणिका, अजामिल आदि अनेक अधमों को तारा है—

हमारी तुमकों लाज हरी ।
जानत हौं प्रभु अन्तरजामी जो मोहिं माँझ परी ।
अपनै औगुन कहँ लौं बरनौं पल पल घरी घरी ।
अति प्रपंच की मोट बाँधि कै अपनैं सीस धरी ।
खेवनहार न खेवत मेरैं अब मो नाव अरी ।
'सूरदास' प्रभु तव चरननि क [illegible] लागि उबरी ॥२८४॥

यदि 'चौरासी वार्ता' की साक्षी प्रामाणिक मानें तो सूरदास की उस समय तक यही मनोदशा थी जब महाप्रभु, बल्लभाचार्य से उनकी पहली भेंट हुई तथा उन्हें कृष्ण-भक्ति का वरदान प्राप्त हुआ। जैसा कि पीछे कह चुके हैं, महाप्रभु को उनका दैन्य अच्छा न लगा। उन्होंने लीलापुरुष श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णमय जगत् के अनन्त सौंदर्य से सूर को परिचित कराया मायामय मिथ्या संसार श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से असत्य और त्याज्य नहीं रहा। सूर के मन और इन्द्रियों को निरोध का सहज और सरल उपाय मिल गया। उनकी चित्त-वृत्तियों को जिनका दमन करने के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे, अब उदात्त और परिष्कृत रूप में व्यक्त होने का अवसर मिल गया। अब उन्हें मन को बार बार समझाने की आवश्यकता नहीं रही, मन स्वतः कृष्ण की रूपराशि और मधुर लीला की ओर प्रवृत्त हो गया। अब सूरदास ने स्वच्छंद हो कर कृष्ण-लीला का गायन किया तथा उस भक्ति-भाव का व्यावहारिक रूप उद्घाटित किया जिसका प्रचार साधारणतया सभी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी संप्रदायों

और विशेषतया पुष्टिमार्ग द्वारा हो रहा था। यद्यपि सूरदास ने न तो पुष्टिमार्ग के दार्शनिक पक्ष की व्याख्या की और न उसके अध्यात्मवाद की विवेचना, फिर भी इस संप्रदाय को आध्यात्मिक पक्ष तथा भक्ति-पक्ष, दोनों देश को व्यावहारिक पक्ष को समझने के लिए सूर के काव्य से अनुपम सहायता मिलती है। अतः महाप्रभु वल्लभ के सिद्धांतों तथा उनके पुष्टिमार्ग के स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है।

गत पृष्ठों में दक्षिण देश के उन आचार्यों का उल्लेख किया जा चुका है जिन्होंने शंकराचार्य के मायापरक अद्वैत सिद्धांत की ऐसी व्याख्या की थी जिससे भक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सका। वल्लभाचार्य कालक्रम के अनुसार उन आचार्यों में सबसे पीछे हुए। किंतु जिस समय उन्होंने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया, उस समय समाज की परिस्थिति अपेक्षाकृत सबसे अधिक अनुकूल थी। इसीलिए निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य के जीवन-काल में उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति की उतनी प्रगति न हो सकी, जितनी वल्लभाचार्य के जीवन-काल में हुई।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग

वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७८ ई० में चंपारण्य नामक स्थान पर हुआ था। उस समय उनके पिता लक्ष्मण भट्ट अपनी स्त्री के साथ उत्तर भारत की यात्रा कर रहे थे। लक्ष्मण भट्ट दक्षिण के एक कृष्ण-भक्त तैलंग ब्राह्मण थे, किन्तु वल्लभाचार्य की बाल्यावस्था काशी में बीती। १३ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने काशी नगरी में ही रह कर वेद, वेदांग, पुराण आदि का अध्ययन किया। उनके पिता का देहान्त उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। किन्तु

माता से उन्हें विद्याध्ययन और देशाटन के लिए पूर्ण प्रोत्साहन और सुविधा मिलती रही। उन्होंने कई बार भारत के मुख्य-मुख्य तीर्थ स्थानों और विद्या के केन्द्रों की यात्रा की और पंडितों एवं विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त की। उन दिनों दक्षिण का विजयनगर राज्य पांडित्य और विद्वत्ता का केन्द्र था। पहली यात्रा में ही वल्लभाचार्य ने वहाँ की विद्वत्सभा में शंकराचार्य के अद्वैतवाद-मायावाद का खंडन करके आचार्य की उपाधि प्राप्त की। कहते हैं, विजयनगर के राजा द्वारा उनका 'कनकाभिषेक' किया गया और उन्हें शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक विष्णुस्वामी की रिक्त गद्दी पर आसीन किया गया। शंकराचार्य की भाँति उन्होंने भी 'दिग्वजय' के लिए 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' (भारत-यात्रा) करके शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया। ब्रज में वे सबसे पहले सन् १४९२ ई० में आए। कहते हैं, उन्हें गोवर्धन पर श्रीनाथ के प्राकट्य की प्रेरणा हो गई थी। श्रीनाथ जी को प्रारम्भ में एक छोटे से मन्दिर में स्थापित किगा गया। सन् १४९९ ई० में अंबाला के एक धनी सेठ पूरनमल से दान पाकर एक बड़े मन्दिर की नींव डाली गई। इस मन्दिर के निर्माण में लगभग १० वर्ष लग गए। सन् १५०९ ई० के लगभग श्रीनाथ जी की मूर्ति इस नवीन मन्दिर में स्थापित की गई। यही मन्दिर आगे चलकर पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का केन्द्र बना। वल्लभाचार्य जी का स्थायी निवास प्रयाग के समीप अरैल नामक स्थान था। किन्तु चतुर्मास वे प्रायः ब्रज में ही बिताते थे। कहा जाता है, अपनी जगन्नाथ यात्रा में उन्होंने चैतन्य महाप्रभु से भी भेंट की थी। उन्होंने अपने शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग

सिद्धान्त की व्याख्या और प्रचार करने के लिए, कहते हैं, ८४ ग्रंथ लिखे, किन्तु इनमें से ३० ग्रथ प्रसिद्ध हैं। इनमें व्यास के ब्रह्मसूत्रों पर किया हुआ उनका 'अणुभाष्य' तथा श्रीमद्भागवत की 'श्री सुबोधिनी' नामक टीका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी सभी रचनाओं में उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करके अपने शुद्ध अद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया। भक्ति पक्ष में उन्होंने प्रेमपूर्ण कृष्ण। भक्ति का प्रचार किया। सन् १५३० ई० में उनका देहान्त हो गया।

वल्लभाचार्य के बड़े पुत्र गोपीनाथ केवल ८ वर्ष तक पुष्टिमार्ग का नेतृत्व कर सके। सन् १५३८ ई० में उनकी मृत्यु के उपरांत उनके छोटे भाई बिठ्ठलनाथ सम्प्रदाय के आचार्य हुए। विठ्ठलनाथ का जन्म सन् १५१५ ई० में हुआ था। उनकी बाल्यावस्था अधिकांश अरैल में बीती। किन्तु १५६६ ई० में वे अरैल छोड़ कर ब्रज में आ गए और १५७१ ई० से स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे। पीछे कह चुके हैं कि सम्राट् अकबर ने उन्हें कई आज्ञा-पत्र दिए जिनके अनुसार वे गोकुल की भूमि में अपनी गउओं और परिजनों के साथ स्वतंत्रतापूर्वक निवास करते रहे। सन् १५८५ ई० में उनका देहांत हो गया। विठ्ठलनाथ गुसाईं (गोस्वामी) नाम से प्रसिद्ध हुए और यह उपाधि उनकी वंश-परंपरा में बराबर चलती रही। गुसाईं जी ने अपने पिता के 'अणु-भाष्य' तथा 'श्रीसुबोधिनी' पर टिप्पणियाँ लिखीं, 'विद्वन्मंडन,' 'भक्ति-निर्णय', 'शृङ्गार-मंडन' आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की तथा श्रीनाथ जी की सेवा की सुचारु रूप से व्यवस्था की। श्रीनाथ जी की आठ दैनिक सेवाओं और उनके वार्षिक व्रत-उत्सवों पर कीर्तन करने,

साज-शृङ्गार करने तथा भाँति भाँति के प्रसाद आदि बनाने का विधान उन्हीं के समय में विकसित हुआ। उन्होंने ही पुष्टिमार्ग के परम प्रसिद्ध भक्त कवियों में से आठ सर्वश्रेष्ठ भक्त छाँट कर उन्हें 'अष्टछाप' नाम से प्रतिष्ठित किया।

शुद्धाद्वैतवाद

वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित पुष्टिमार्ग जिस दार्शनिक मतवाद पर आधारित है उसे शुद्धाद्वैतवाद कहते हैं। इसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—एक पूर्ण पुरुषोत्तम रस रूप, आनन्द रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, दूसरा अक्षर ब्रह्म जो गणितानंद अर्थात् सीमिति आनन्द वाला रूप है और तीसरा अंतर्यामी रूप। अक्षर ब्रह्म को पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्द रूप श्रीकृष्ण का धाम, गोलोक भी बताया गया है। यही अक्षर ब्रह्म विविध काल, कर्म, स्वभाव वाले प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवाओं के रूप में परिणत हो कर प्रकट होता है। इसी अक्षर ब्रह्म रूपी अक्षर धाम या गोलोक में पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म श्रीकृष्ण के रूप में नित्य एक रस आनन्द में मग्न रहता है। किन्तु आनन्द रूप श्रीकृष्ण का प्राकृत शरीर नहीं है, उनके प्राकृत गुण भी नहीं हैं। इसलिए वे निराकार और निर्गुण हैं, फिर भी वे सहस्र-पाद, सहस्र-कर, सहस्र-मुख हैं। उनका यह शरीर सब आनन्द-सृष्ट है। इस परब्रह्म को जब एक से अनेक होने की इच्छा होती है तब वह अपनी लीला का विस्तार करता है और केलि-सुख के लिए नाना रूपों में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार, जड़ चेतन नाना रूपमयी सृष्टि ब्रह्म रूप ही है, वह उसके अक्षर रूप का विस्तार

है। आनन्द रूप कृष्ण-ब्रह्म की वह इच्छा-शक्ति, जिसके परिणाम से चराचर जगत् की सृष्टि होती है, उनकी माया है और वह मिथ्या नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म की ही शक्ति है। चराचर प्रकृति भी ब्रह्म का अंश होने से सत्य है। चराचर प्रकृति ब्रह्म के सत् अंश से आविर्भूत होती है और त्रिगुणात्मक होती है। ब्रह्म के सत् अंश के अप्राकृत तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम से ही विष्णु, ब्रह्मा और महेश की उत्पत्ति होती है। वे ही तीनों अक्षर ब्रह्म के गुणावतार कहे जाते हैं। अक्षर ब्रह्म के अनेक अंशावतार और कलावतार होते रहते हैं। श्रीकृष्ण इन अवतारों से भिन्न हैं। अनवतार दशा में वे अपने अक्षरधाम—गोलोक—में नित्य आनन्द केलि में मग्न रहते हैं। अवतार दशा में वे अपने अक्षरधाम तथा गोप, गोपी आदि परिकर सहित ब्रज-वृंदावन में प्रकट होते हैं तथा भक्तों को अपनी आनंद-केलि का सुख प्रदान करते हैं। कृष्ण की इस आनन्द-केलि का लीला के अतिरिक्त और कोई अन्य हेतु नहीं होता, अतः उनकी लीला 'अहैतुक' कही जाती है। रसानन्द में मग्न पूर्ण परब्रह्म को रसावतार और पुष्टि-पुरुषोत्तम कहा गया है और उसे लोक और वेद की मर्यादाओं से परे बताया गया है, किंतु कृष्णावतार का अन्य रूप—मर्यादा रूप भी है और उस रूप में वह अन्य अवतारों की भाँति चतुर्व्यूहात्मक होता है। इस मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप में वेद और धर्म की रक्षा और मर्यादा की स्थापना उसका प्रयोजन होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चार व्यूहों में वासुदेव मोक्षदाता, संकर्षणदुष्ट-संहारक, प्रद्युम्न सृष्टि-रक्षक और पालनकर्ता तथा अनिरुद्ध धर्म-रक्षक और धर्मोपदेष्टा हैं।

इस प्रकार कृष्णावतार दो रूपों में माना गया है। वासुदेव, देवकी-नंदन, मथुरापति, द्वारकाधीश, रुक्मिणीरमण श्रीकृष्ण मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। उन्होंने इसी रूप में अनेक असुरों का संहार किया और कंस कालयवन आदि को मार कर धर्म की स्थापना की। यशोदानंदन, नंद-नंदन, ब्रजवल्लभ, गोपीनाथ, राधा कृष्ण, रसेश्वर पुष्टि-पुरुषोत्तम हैं और अपने कृपा-पात्र भक्तों को अपनी रसकेलि का आनन्द देते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जगत् और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। जगत् ब्रह्म के सत् अंश से और जीव उसके सत् और चित् अंश से उद्भूत होता है। ब्रह्म का आनंद अंश कभी-कभी ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार ब्रह्म और जीव तथा जड़ सृष्टि में अंशी और अंश का संबंध है। ब्रह्म ही उनका निमित्त और उपादान, दोनों प्रकार का कारण है। जगत् का चराचर रूप में ब्रह्म की इच्छा से ही आविर्भाव होता है, इसलिए ब्रह्म और जगत् में कारण और कार्य का भी संबन्ध कहा जा सकता है। किन्तु शुद्धाद्वैत मायावाद की तरह यह नहीं मानता कि जगत् रूप में अंशतः परिणत होने पर ब्रह्म में विकार आ जाता है, बल्कि उसके अनुसार यह अचेतन जगत् चेतन जीवों के रूप में परिणत हो कर भी शुद्ध ब्रह्म ही रहता है। इसीलिए शुद्धाद्वैतवाद को अविकृत परिणामवाद भी कहते हैं। इसी अविकृत रूप में जगत् ब्रह्म की इच्छा से लय होकर उसी में समा जाता है। पीछे बताया गया है कि शुद्धाद्वैतवाद में ब्रह्म की सृष्टिकारिणी इच्छा शक्ति ही 'माया' कही गई है। ब्रह्म की माया की 'अविद्या' नामक एक शक्ति भी बताई गई है, जिसके द्वारा 'जगत्' से भिन्न 'संसार' की

उत्पत्ति होती है। यह अविद्या माया जीव में अहंभाव पैदा करती है। अहम् और मम के प्रभाव से जीव मोहग्रस्त रहता है और उसमें द्वैत बुद्धि पैदा हो जाती है, अर्थात् वह 'मैं' और 'मेरे' की सीमा में बँधकर भेद-भाव अपना लेता है। भेद-भाव आ जाने पर उसमें राग और द्वेष उत्पन्न हो जाता है तथा जीव उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख-क्लेश भोगता है। मोहग्रस्त जीव राग-द्वेष के वशभूत हो कर जो कर्म करता है वे ही उसे जन्म-मरण के बंधन में डालते हैं। यही जन्म-मरण का चक्र 'संसार' है। इस प्रकार 'संसार' 'जगत्' से भिन्न माना गया है। जगत् शुद्ध और सत्य ब्रह्म-सृष्टि है, संसार अविद्याजन्य काल्पनिक जीव-सृष्टि है। जगत् का उपादान और निमित्त—दोनों प्रकार का कारण ब्रह्म ही है; संसार का उपादान कारण अविद्या माया तथा निमित्त कारण अविद्या माया से आच्छन्न जीव है। यह अविद्या माया जीव-के बंधन का कारण बनती है। इसके विपरीत विद्या माया अथवा ब्रह्म की इच्छा-शक्ति जीव की मुक्ति का कारण होती है। भगवान् की कृपा या अनुग्रह से ही जीव की अविद्या अथवा भ्रम दूर हो सकता है।

जीव और जगत् सत्-चित्-आनंद ब्रह्म के ही क्रमशः चित् और सत् अंश हैं। ब्रह्म का आनन्द अंश अंतर्यामी रूप से तिरोहित रहता है। आनंद अंश से हीन होने के कारण ब्रह्म के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छः गुण भी जीव को प्राप्त नहीं होते। अतः वह दीन, हीन, पराधीन, दुखी, अज्ञानी, अहंकारी, विषयासक्त तथा जन्म-मरण के दोष से युक्त रहता है। जीव भी कई प्रकार के बताए गए हैं। यथा—
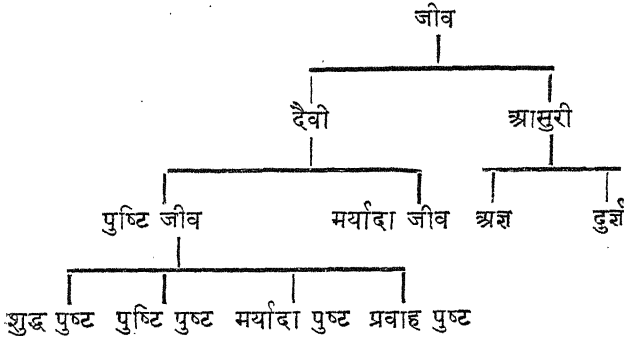
उपर्युक्त चारों प्रकार के पुष्टि जीव भगवान् की 'सेवा' (भक्ति) के लिए उत्पन्न होते हैं। ऐश्वर्यादि छः गुणों से हीन होने पर भी उनकी क्षीणता भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि से दूर हो जाती है। मर्यादा जीव पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म की 'सेवा' (भक्ति) के योग्य नहीं होते, वे केवल वेद-शास्त्र-संमत कर्मकांड और ज्ञानमार्ग का अनुसरण करके ही स्वर्गादि लोक प्राप्त कर सकते हैं; अधिक से अधिक उन्हें अक्षर ब्रह्म में सायुज्य मुक्ति मिल सकती है। इनसे भिन्न पुष्टि जीव भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करके ब्रह्म के आनन्द रूप को प्राप्त होते हैं। शुद्ध पुष्ट जीव नित्य और मुक्त होते हैं और वे भगवान् के छः गुणों से युक्त अप्राकृत शरीर से भगवान् की नित्य सेवा का आनन्द लाभ करते हैं। कृष्ण-अवतार की दशा में वे भी भगवान् के साथ अवतार लेते हैं। ब्रज के गोपी-गोपी ऐसे ही जीव हैं। आसुरी जीव प्रवाहशील होते हैं, अर्थात् उनका बार बार जन्म होता है और वे बार-बार संसार में लिप्त होते और अज्ञान-वैर के भागी होते हैं। इनमें से अज्ञ जीवों का भग-

वान् के प्रति उत्कट भाव होता है और उस वैर भाव से ही उनका उद्धार होता है, क्योंकि स्वयं भगवान् के द्वारा उनका संहार होता है। किंतु दुष्ट आसुरी जीवों का कभी उद्धार नहीं होता, वे निरन्तर जन्म-मरण के बन्धन में पड़े रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म के आनंदांश को प्राप्त करने का एकमात्र साधन भगवान् की 'सेवा' या भक्ति है। किंतु यह भक्ति उन्हीं को प्राप्त होती है जो भगवान् के

पुष्टि भक्ति

अनुग्रह-भाजन होते हैं। वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत के एक संदर्भ (पोषणं तदनुग्रहः, स्कंध २, अध्याय १०, श्लोक ४) आधार पर भगवान् के अनुग्रह को 'पोषण' कहा है। पाप के कारण दुर्बल और क्षीण जीवात्मा को भगवान् के कृपारूपी पोषण की अवश्यकता होती है। यही कृपा-पात्र जीव 'पुष्ट' जीव कहे जाते हैं। ये भगवान् के आनंद-काय से उत्पन्न होते हैं। शुद्ध पुष्ट जीव तो वस्तुतः लोकातीत हाते हैं, उनकी अवस्था सिद्धावस्था होती है। शेष तीन प्रकार के पुष्टि जीव भक्ति के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। संसार, अर्थात् अहम् और मम के बंधन में वे भी पड़ जाते हैं, किंतु उनमें भक्ति का बीज सहज ही अंकुरित हो सकता है। वे संपूर्ण रूप से भगवान् की कृपा पर निर्भर होते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्द रूप श्रीकृष्ण के साथ उसी प्रकार का अनन्य प्रेम करते हैं जैसे स्वाति जल के साथ चातक करता है। इस प्रेम-भक्ति के आधार पर अंश रूप जीव का अंशी ब्रह्म के साथ जो संबंध स्थापित होता है उसे पुष्टिमार्गीय पद्धति में 'ब्रह्म संबंध' कहा गया है। गुरु के द्वारा यह सम्बन्ध सम्प्रदाय की दीक्षा के समय ही

कराया जाता है और भक्त 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का उच्चारण करके श्रीकृष्ण को तन, मन, धन, पुत्र, कलत्र आदि का समर्पण कर देता है और इस प्रकार अनात्म हो कर समस्त दोषों से निवृत्ति पा जाता है। इसके अनंतर भक्त किसी वस्तु को अपना नहीं कह सकता, वह जो कुछ ग्रहण करता है वह पहले भगवान् को समर्पित करके ही करता है। सर्वभावेन सर्व-समर्पण करके भगवान् की सेवा तीन प्रकार से की जाती है—'तनुजा' सेवा में भक्त अपने शरीर तथा अपने पुत्र, स्त्री आदि को भगवान् को सेवा में लगाता है; 'वित्तजा' सेवा में वह अपना धन,यश, आदि भगवान् को समर्पित करता है तथा 'मानसी' सेवा में जो सब से अधिक महत्त्वपूर्ण और सब के लिए अनिवार्य है, मन के निरोध का अभ्यास किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्त के लिए आवश्यक है कि वह श्रीकृष्ण को छोड़ और किसी का चिंतन न करे। पुष्टिमार्गीय भक्ति ऐकांतिक धर्म है जिसमें कर्मकांड, योग, तप, ज्ञान आदि साधनों को स्थान नहीं है। ये धार्मिक साधन केवल 'मर्यादा जीवों' के लिए हैं। 'पुष्टि जीव' अनन्य भाव से केवल श्रीकृष्ण की भक्ति ही करते हैं, वही उनका साधन और वही उनका साध्य है। श्रवण, कीर्तन; आदि नवधा भक्ति का पुष्टिमार्गीय भक्ति में भी स्थान है, किंतु, यदि इस नवधा भक्ति को क्रमिक विकास के रूप में ग्रहण किया जाय तो वस्तुतः उसकी अन्तिम स्थिति—आत्म-समर्पण—पुष्टिमार्गीय भक्ति की प्रथम स्थिति है। पुष्टिमार्गीय भक्ति की दीक्षा ही आत्म-समर्पण से प्रारंभ करके दी जाती है। किंतु आत्म-समर्पण का भाव दृढ़ करने के लिए भक्त भक्तों के सत्संग में श्रवण, कीर्तन,

आदि का अभ्यास करता रहता है। भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान के साथ उनके प्रति उत्कट प्रेम की अनुभूति ही भगवान् की कृपा का सब से प्रबल प्रमाण है। भक्त भगवान् के वियोग का अधिकाधिक तीव्रता साथ अनुभव करता हुआ अपने प्रेम को दृढ़ करता जाता है और उसके मन में श्रीकृष्ण-मिलन की आकांक्षा तीव्र होती जाती है। वियोग की विकलता भक्त के मन को इतना तल्लीन कर लेती है कि उसे संसार की सुध नहीं रहती, स्वतः ही उसका मोह नष्ट हो जाता है और इस प्रकार उसे राग-विनाश की स्थिति प्राप्त हो जाती है। संसार के राग का नाश श्रीकृष्ण के प्रति उत्कट अनुराग का परिणाम होता है। यह 'प्रेम' जब 'आसक्ति' का रूप धारण कर लेता है तब भक्त को गृहादि से अरुचि हो जाती है और पुत्र-कलत्र आदि सांसारिक सम्बन्धों को वह बाधा रूप मानने लगता है। यही आसक्ति बढ़ते-बढ़ते 'व्यसन' के रूप में परिणत हो जाती है और तब यह प्रेम-लक्षणा भक्ति पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति में भक्त को किसी प्रकार का दुःख-शोक नहीं रहता, वह पूर्णतया आत्म-विस्मृत हो जाता है। यह स्थिति 'निरोध' की स्थिति है और इसे आत्म-निवृत्ति अथवा आत्मा का नाश कह सकते हैं। भक्त भगवान् के साथ उसी के लिए प्रेम करता है और प्रत्येक वस्तु का अनुभव उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार स्वयं भगवान् करते हैं। इस प्रकार भगवान् से जो भक्ति की जाती है, उसे 'प्रेम-लक्षणा' या 'रागानुरागा' भक्ति कहते हैं, जो उस 'मर्यादा' भक्ति से भिन्न है जिसमें प्रेम के साथ-साथ कर्म आदि साधनों का भी विधान है।

भगवान् के प्रति प्रेम-लक्षणा भक्ति का सम्बन्ध विविध भावों का हो सकता है। भागवत में एक स्थान पर आया है कि 'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।' अर्थात् जो कोई भगवान् में नित्य काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द का भाव रखता है वह भगवान्मय हो जाता है। इस कथन के अनुसार रागानुगा भक्ति के 'राग' का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। महाप्रभु वल्लभ ने इस कथन की व्याख्या करते हुए कहा है कि काम स्त्री-भाव में, क्रोध शत्रु-भाव में, भय बधिक भाव में. स्नेह सम्बन्धियों में, ऐक्य ज्ञान अवस्था में, और सौहार्द सख्य भाव में होता है। भगवान् के प्रति अनुभव किया हुआ प्रत्येक भाव भगवन्मय हो जाता है। किन्तु वल्लभाचार्य ने गोवर्धन के श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस सेवा-पद्धति की व्यवस्था की थी वह बाल-भाव की ही थी। यह परम्परा पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में अब तक चली आती है। प्रारम्भ में इस सम्प्रदाय में गोपाल कृष्ण की वात्सल्य भक्ति का ही माहात्म्य था। किन्तु स्वयं श्री वल्लभाचार्य ने एक स्थल पर कहा है, 'मेरे हृदय में भी गोपियों के विरह का दुःख पैदा हो जाए।' वल्लभाचार्य के समय में कृष्ण की अन्य भक्ति-पद्धतियों —गौड़ीय, राधावल्लभी और हरिदासी—में कांता रति की प्रधानता थी। स्वयं वल्लभाचार्य और चैतन्य देव की भेंट हुई थी तथा दोनों महाप्रभुओं के सम्प्रदायों में परस्पर विचार-विनमय होता रहता था। प्रारम्भ में श्रीनाथ जी की 'सेवा' के लिए गौड़ीय वैष्णव ही नियुक्त किए गए थे। पुष्टिमार्गीय भक्तों ने अपनी रचनाओं में वात्सल्य

भाव से कहीं अधिक कांता भाव प्रकट किया है। अष्टछाप के भक्त-कवियों में सबसे पहले कुम्भनदास ने महाप्रभु से दीक्षा ली थी और वार्ता में इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि इन्हें युगल रूप और स्वामिनी जी का इष्ट था। सूरदास और परमानन्ददास सम्बन्धी वार्ताओं से भी प्रकट होता है कि इन भक्त कवियों ने अपने अन्तिम समय में राधा-भाव की आकांक्षा करते हुए इहलीला संवरण की थी। वल्लभाचार्य के भक्त शिष्यों का अन्य कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाओं के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था और हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि वात्सल्य भाव की भक्ति-पद्धति स्थापित करते हुए स्वयं वल्लभाचार्य ने कांता भाव की भक्ति की सम्भावना स्वीकार की होगी। फिर भी उन्होंने श्रीनाथ जी का आठ दैनिक 'सेवाओं' में कांता भाव की 'सेवा' को सम्मिलित नहीं किया और न राधा की मान्यता स्थापित की। किन्तु सम्भवतः कृष्ण-भक्ति के अन्य सम्प्रदायगत तथा लोकप्रिय रूप के प्रभाव से वल्लभाचार्य के पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ ने अपने सम्प्रदाय में कांता भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्याष्टक' और 'स्वामिनी स्तोत्र' नामक दो ग्रंथ रचे तथा श्रीनाथ जी के वार्षिक उत्सवों में राधा के जन्मोत्सव को भी स्थान दिया। गुसाईं जी ने 'शृङ्गार रस मंडन' नामक ग्रंथ रच कर भी माधुर्य-भक्ति की महत्ता स्वीकार की। यद्यपि 'शृङ्गार रस मंडन' में भक्ति-भाव का उस प्रकार का विशद विवेचन नहीं है, जैसा गौड़ीय सम्प्रदाय की रचनाओं—'भक्ति रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' में, फिर भी उसकी प्रकृति वही है। यह स्वीकार

किया जाता है कि गुसाईं विट्ठलनाथ के समय में पुष्टिमार्ग में माधुर्य भक्ति का महत्त्व अत्यधिक हो गया था। यह भी कहा जाता है कि इस अतिशय महत्त्व को घटाने का भी सफल उद्योग किया गया। जो हो, जहाँ तक सूरदास का सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि उनके समय में कांता रति का पुष्टि सम्प्रदाय में भी सम्भवतः उतना ही महत्त्व हो गया था, जितना अन्य सम्प्रदायों में था। 'वार्ता' में वर्णित सूरदास के जीवन-वृत्त से भी सूचित होता है कि यद्यपि सूरदास ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो कर गोपाल कृष्ण की वात्सल्य भक्ति का गायन सबसे पहले किया और उसी भाव की प्रचुर रचना की, फिर भी जीवन के अन्तिम काल में उनकी आकांक्षा राधा-भाव से श्रीकृष्ण की आनन्द-लीला में सम्मिलित होने की थी। उनकी रचना में कांता भाव सम्बन्धी अंश अपेक्षाकृत सबसे अधिक है। पुष्टिमार्ग में हमें रागानुगा भक्ति की उस प्रकार की सम्यक् व्याख्या नहीं मिलती, जैसी गौड़ीय सम्प्रदाय की उपर्युक्त दो प्रसिद्ध रचनाओं में की गई है, तथापि, कम से कम सूरदास की रचना में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, पाँचों प्रकार की भक्ति-रति का विशद चित्रण हुआ है। सूरदास जैसे उच्च भगवदीय के लिए कृष्ण-भक्ति का व्यापक और तर्क-सम्मत भाव-विस्तार करना सर्वथा स्वाभाविक था। वे किसी भाव-विशेष की सांप्रदायिक परिधि में अपनी प्रेम-भक्ति को सीमित नहीं रख सकते थे। ऊपर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि यह व्यापक भाव-विकास पुष्टिमार्गीय प्रेम-लक्षण भक्ति-पद्धति में भी अमान्य नहीं, प्रत्युत पूर्णतया स्वीकृत था।

५

प्रेम-भक्ति

सूरदास की प्रेमलक्षणा भक्ति के अध्ययन में हम उनके भाव-लोक का क्रमिक विस्तार देख सकते हैं । परन्तु उसके पहले भक्ति के प्रमुख भावों का सापेक्ष महत्त्व की दृष्टि से आकलन कर लेना अधिक संगत होगा । यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि भक्ति के ये भाव मानव मनोविज्ञान पर आश्रित हैं तथा उनका महत्त्व भी मनोविज्ञान-सम्मत है ।

गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२,६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृति-भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२,६३॥

अर्थात्, 'विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है । आसक्ति से उनकी कामना उत्पन्न होती है और कामना से (उनमें विघ्न पड़ने के कारण) क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मोह, अर्थात् अविवेक पैदा होता है । अविवेक से स्मरण शक्ति में भ्रम पैदा हो जाता है । स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है । बुद्धि के नाश होने से वह पुरुष नाश को प्राप्त होता है, अर्थात् अपने श्रेय पथ से भ्रष्ट हो जाता है ।' इन्द्रियों का स्वभाव ऐसा प्रबल है कि बुद्धिमान् पुरुष भी उनके द्वारा पथ-भ्रष्ट हो जाते

हैं। इसलिए भगवान् ने उपदेश दिया है कि संपूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हो कर मेरे परायण होना चाहिए। किन्तु इन्द्रियों को वश में किस प्रकार किया जाय? इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म छोड़ा तो जा नहीं सकता, केवल उन्हें राग-द्वेष-रहित शुद्ध व्यवहार के अभ्यास द्वारा संयमित किया जा सकता है। परन्तु कैसे? विषयों में मन की आसक्ति हुए बिना इंद्रियाँ अपना स्वाभाविक धर्म कैसे कर सकती हैं? यह आसक्ति और उससे उत्पन्न हुआ काम भाव ही वास्तव में मनुष्य की चित्तवृत्तियों की चंचलता का मूल उद्गम है। इसी से मनुष्य का पतन होता है। मध्ययुग के संतों ने इस कठोर सत्य को भली भाँति देखा था। इसीलिए उन्होंने सुत-कलत्र के संबंधों को त्यागने का उपदेश दिया। परन्तु बाह्य रूप में उन्हें त्याग देने पर भी उनके साथ मन में जो राग-वृत्ति होती है उसे छोड़ना सरल नहीं है। इसीलिए गीता के 'मत्परायण' होने के उपदेश को व्यावहारिक रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता थी। कृष्ण-भक्ति में यही किया गया।

भगवान् ने गीता में अन्यत्र कहा है 'यो यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्'। इसे भागवत के आधार पर सूरदास ने इस प्रकार कहा है—

सुनो सुक कह्यौ परीच्छित राउ।
गोपिन परम कंत हरि जान्यौ लख्यो न ब्रह्म प्रभाव।
गुनमय ध्यान कीन्ह निर्गुन पद पायौ तिन केहि भाइ।
मेरे जिय संदेह बढ़्यौ यह मुनिवर देहु नसाइ।

सुक कह्यौ कुटिल भाव मन राखे मुक्त भयौ सिसुपाल।
गोपी हरि की प्रिया मुक्ति लहैं कहा अचरज भूपाल।
काम क्रोध में नेह सुहृदता काहू बिधि कहै कोई।
धरै ध्यान हरि को जो दृढ़ करि 'सूर' सो हरि सो होई ॥१६२६॥

यही बात दानलीला मे सूरदास ने दूसरे ढंग से कृष्ण द्वारा कहलाई है—

झूठी बात कहा मै जानौ।
जो हमकौ जैसैं ही भजै री ताकौ तैसै ही मानौ।
तुम पति कियौ मोहि को मन दै मैं हौ अन्तर्यामी।
जोगी कौं जोगी ह्वै दरसौ कामी कौ ह्वै कामी ॥२१८१॥

मनुष्य की विषयासक्ति और तज्जन्य काम-भावना का सबसे अधिक तीव्र और घनिष्ठ रूप स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण मे होता है। अतः

माधुर्य

श्रीमद्‌भागवत के सूक्ष्म संकेत के आधार पर तथा भगवद्‌गीता के काम भाव सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य सिद्धात के अनुकूल कृष्ण-भक्तो ने दांपत्य रति को प्रधानता दे कर उसके परिष्कार के लिए श्रीकृष्ण मे उसके समर्पण का रूपक बाँधा। इस सम्बन्ध मे कृष्ण-भक्ति के लिए सूरदास की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीमद्भागवत मे भी गोपियो के माधुर्य भाव का क्रमिक विकास दिखाया गया है और यह व्यंजित किया गया है कि जब गोपियाँ अपने समस्त व्यक्तिगत सम्बन्धो—पति, पुत्र, बंधु-बाधव आदि को तिलाजलि दे कर लोकापवाद और शास्त्रीय विधि-निषेध की तनिक भी चिन्ता न करके तथा अपने गर्व, अर्थात् अहम् का सर्वथा नाश करके श्रीकृष्ण

की शरण में जाती हैं और अपने मन के सबसे गहरे कलुष—काम की वासना—को श्रीकृष्ण प्रेम में लय कर देती हैं, तभी श्रीकृष्ण उन्हें प्राप्त होते हैं और तभी उन्हें विशुद्ध आनन्द की उपलब्धि होती है। किन्तु भागवत के इस रूपक को सूरदास ने और अधिक विशद रूप रूप दिया। उन्होंने गोपियों के श्रीकृष्ण-प्रेम का उत्तरोत्तर मनोवैज्ञानिक विकास दिखाया तथा गोपियों के गर्व-नाश और सर्वात्म-समर्पण का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण किया। साथ ही गोपियों के प्रेम को उत्तरोत्तर विकसित हो कर चरम परिणति पर पहुँचाने के लिए उन्होंने राधा-कृष्ण-प्रेम का आदर्श चित्रित किया। गोपियाँ इसो आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। प्रेम की पूर्ण आत्म समर्पण की स्थिति उन्हें प्राप्त हो जाती है, किंतु राधा की स्थिति उन्हें नहीं मिल सकती। आदर्श की पूर्ण उपलब्धि संभव भी कहाँ है? राधा तो कृष्ण से सर्वथा अभिन्न हैं, वे उन्हीं की ह्लादिनी शक्ति हैं, जिसे अपने परमानंद रूप को प्रकाशित करने के लिए उन्होंने भिन्न रूप में प्रकट किया है।

भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। रास-नृत्य के बीच गोपियों का गर्व खंडन करने के हेतु जब श्रीकृष्ण अंतर्धान हो गए, तब गोपियों ने उन्हें खोजते खोजते एक स्थान पर उनके चरण-चिह्नों के साथ किसी स्त्री के चरण-चिह्न देखे। उस परम सौभाग्यशालिनी स्त्री से गोपियों को ईर्ष्या होने लगी। आगे चल कर गोपियों ने देखा कि उस स्त्री के पद-चिह्न लुप्त हो गए हैं। उन्होंने अनुमान किया कि संभवतः उसे श्रीकृष्ण ने अपने कंधे पर चढ़ा लिया होगा। आगे वह

स्त्री भी अन्य गोपियों की भाँति पति-वियोग में विलाप करती हुई दिखाई दी। उसे भी गर्व हो जाने के कारण श्रीकृष्ण ने वियोग-दुःख सहने के लिए छोड़ दिया था। इस गोपी के संबन्ध में अन्य गोपियों ने कहा था—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविंदः प्रीतो यामनयद् रहः ॥स्कंध१०पू०,अ०३०,
श्लोक २८ ॥

अर्थात्, 'निश्चय ही इसने ईश्वर भगवान् हरि की आराधना की है, तभी गोविंद हमें छोड़ कर और प्रसन्न हो कर उसे अपने साथ एकांत में ले गए हैं।' ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह गोपी राधा ही थी। 'आराधितः' में उसके नाम का संकेत भी माना जाता है। राधा-कृष्ण के परवर्ती सांप्रदायिक महत्त्व की दृष्टि से यह अनुमान तर्क-संगत जान पड़ता है; किंतु ब्रह्मवैवर्त के पहले पुराणों ने राधा को महत्त्व नहीं दिया, यहाँ तक कि उनका नामोल्लेख तक नहीं किया। फिर भी कृष्ण के साथ राधा के प्रेम की कथाएँ कम से कम छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी से प्रचलित थीं। इसका प्रमाण काव्य-साहित्य तथा पुरातत्त्व की साक्षियों से मिलता है। जो हो, सूरदास ने राधा-कृष्ण के युगल-प्रेम का जो चित्र उपस्थित किया है, वह कृष्ण-भक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूरदास ने कृष्ण और राधा की अभिन्नता वारंबार घोषित की है। किंतु अपनी जिस रासलीला के लिए श्रीकृष्ण ने उन्हें पृथक् कर के उत्पन्न किया, उसका सहज मानवीय जैसा, रूप-सौंदर्य पर आधारित प्रेम का मनोवैज्ञानिक विकास सूरदास ने बड़ी कुशलता और

कलात्मकता से चित्रित किया। कृष्ण और राधा अभी बाल्यावस्था में ही हैं। एक दिन भौंरा-चकडोरी का खेल खेलते हुए यमुना के किनारे दोनों की भेंट हो जाती है। कृष्ण मोर-मुकुट, कुण्डल और पीताम्बर धारण किए हुए हैं, उनके दाँत विद्युत की भाँति चमक रहे हैं और अंगों पर चन्दन का अंगराग लगा है। वे अचानक राधा को देख लेते हैं। राधा के नेत्र विशाल हैं, माथे पर रोरी लगी है, वे नील वस्त्र पहने हुए हैं, पीठ पर वेणी लटक रही है। इस अल्प-वय, गौर-वर्ण सुन्दरी को देखते ही कृष्ण रीझ जाते हैं। दोनों के नेत्र मिलते हैं और मानो जादू हो जाता है। फिर—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?

कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी।

बालिका उत्तर देती है—

काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहतिं आपनी पौरी।

सुनति रहतिं स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि चोरी।

कृष्ण कहते हैं—

तुम्हरौ कहा चोरि हम लै है, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।

और इतनी बातचीत के बाद ही—

'सूरदास' प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी ॥१२६१॥

नयनों से ही दोनों की बातें हो गईं और गुप्त प्रीति प्रकट हो गई। कृष्ण ने उसे अपने घर का पता बता दिया और कहा कि कभी-कभी हमारे यहाँ खेलने आया करो। जब आओ, तब मेरा नाम 'कान्हाँ' लेकर द्वार पर बुला लिया करो। तुम्हें वृषभानु बाबा की सौगंध है,

सवेरे-सायं एक बार अवश्य आना। तुम सीधी हो, इसी से तुम्हारा साथ करता हूँ। इसके बाद दोनों किसी न किसी बहाने से मिलने लगे। उनके मिलने के अनेक दृश्य सूरदास ने अंकित किए हैं, जिनमें प्रेम का क्रमिक विकास दिखाया गया है। यद्यपि यशोदा को इन प्रेम-मिलनों का रहस्य ज्ञात हो जाता है, फिर भी वे उस विषय में ऊपर से अनभिज्ञ बनी रहना चाहती हैं। उधर राधा की माता यथासंभव राधा के स्वच्छन्द प्रेम-विकास में बाधा उपस्थित करती है। यही नहीं, राधा को परिजनों के अतिरिक्त समाज का भी डर है। वे कृष्ण के आदेशानुसार अपने प्रेम को गुप्त ही रखना चाहती हैं। उनकी सखियाँ तक उनके प्रेम का पूर्ण रहस्य नहीं जान पातीं, यद्यपि उन्हें आभास अवश्य मिल जाता है कि राधा का कृष्ण के साथ कुछ विशेष और गूढ़ सा सम्बन्ध है। वे राधा की सराहना करती हैं, उनके सौभाग्य से स्पर्धा करती हैं. पर उनसे द्वेष नहीं करतीं। इस प्रकार राधा के गूढ़ प्रेमाचरणों से प्रेरणा, प्रोत्साहन और शिक्षा पा कर गोपियाँ अपने प्रेम को पक्का करती जाती हैं। जब कृष्ण गोपियों का भी प्रेम स्वीकार कर लेते हैं, यद्यपि वे उसे राधा के प्रेम का स्थान नहीं देते, तब राधा प्रकट रूप में प्रेम का व्यवहार करती हैं। इस प्रेम का चित्रण सूरदास ने पूर्णता के रूप में किया है। अब राधा मान करती हैं, कृष्ण उनके विरह में विकल होते हैं, उन्हें मनाते हैं, सखियों की सहायता माँगते हैं और अपने प्रेम का निवेदन करते हैं। इस प्रकार संयोग काल में राधा का प्रेम चरम परिणति को प्राप्त होता है।

सूरदास ने प्रारम्भ से ही राधा को आदर्श प्रेमिका के रूप में

चित्रित करके उसके सहारे गोपियों का प्रेम-विकास दिखाया है। गोपियों का माधुर्य प्रेम माखन-चोरी के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है, यद्यपि उस समय कृष्ण अत्यन्त छोटे बालक हैं। उनकी माखन-चोरी का हाल सुन कर प्रत्येक ब्रज-वनिता चाहती है—

ब्रज बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारे आवैं।
माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुवावैं ८६०

फिर भी माखन-चोरी की शिकायतें होती हैं, झगड़े होते हैं, प्रति-वाद होते हैं। सूरदास प्रेम के इस रहस्य को भली भाँति जानते हैं कि वह प्रतिकार से वृद्धि पाता है और गोपन एवं अस्वीकृति में प्रेमियों को सुख मिलता है। सूरदास ने गोपियों के प्रेम-विकास के लिए भागवत से स्वतन्त्र रूप में न केवल माखन-चोरी के समय उनके चंचल चरित्र में युवती और किशोरी गोपियों को मधुर रति के भाव से मोह लेने की शक्ति का चित्रण किया, अपितु उस मुग्धता को विवशता की कोटि तक पहुँचाने के लिए उन्होंने मुरली-वादन के सम्मोहन का रासलीला के बहुत पहले ही वर्णन किया है। गोपियाँ उसे सुन कर चकित रह जाती हैं—

....जो जैसे सो तैसे रहि गई सुख दुख कह्यो न जाइ।
चित्र लिखी सी 'सूर' सु ह्वै रहिं इकटक पल बिसराइ ॥१२३९॥

और

वहै शब्द सुनियत गोकुल मैं मोहन रूप बिराजन।
'सूरदास' प्रभु मिले राधिका, अंग-अंग कर साजन ॥१२४०॥

राधा बड़ी चतुराई से कृष्ण के साथ मिलती हैं। एक दिन घर

जा कर उन्होंने देर से घबराहट के साथ लौटने का यह कारण बताया कि मुझे रास्ते में एक लड़की मिली जिसे काले साँप ने काट खाया था। इतने में एक लड़का आया, कहते हैं कि वह नन्द का पुत्र है, उसने गारुड़ मंत्र पढ़ कर साँप का विष उतार दिया। यह गढ़ी हुई बात था, क्योंकि कुछ दिन बाद उन्होंने साँप द्वारा काटे जाने का स्वयं बहाना किया, स्वभावतः नन्द का पुत्र बुलाया गया और उसके उपचार से राधा का विष उतरा। गोपियाँ कृष्ण के इस गारुड़ीपन के रहस्य को समझ गईं। उन्होंने व्यंग किया—

बड़े गारुड़ी अब हम जाने संगहि रहति सु काम।
हम समझीं यह बात तुम्हारी जाहु आपने धाम ॥१३८१॥

कृष्ण केवल हँस दिए, किंतु उस हँसी ने गोपियों को मोह लिया, वे विवश हो गईं, तन की सुध भूल गईं, उनका मन श्याम ने चुरा लिया और इस प्रकार उन्हें असहाय छोड़ कर वे चले गए—

....लहर उतारि राधिका सिर तैं, दई तरुनिनि पै डारि।
करति विचार सुन्दरी सब मिलि, अब सेवहु त्रिपुरारि।
माँगहु यहै देहु पति हमकौं, 'सूर' सरन बनवारि ॥१३८२॥

इस प्रकार सूरदास ने चीरहरण लीला तक के गोपी-प्रेम के विकास को स्वाभाविक और मनोविज्ञान-सम्मत बनाने के लिए भागवत से स्वतन्त्र घटनाओं की मनोहर उद्भावना की है। राधा संबंधी उपर्युक्त घटना के बाद ही गोपियाँ 'भवन-रवन' सब भूल गईं और सोचने लगीं कि जैसे हो, नंद-नंदन का प्रेम प्राप्त करना चाहिए, नहीं तो जीवन व्यर्थ है—

बृथा जनम जग में जिनि खोवहु ह्याँ अपनो नहिं कोइ ।
तब प्रतीति सबहिनि कौं आई, कीहौं दृढ़ बिस्वास ।
'सूर' स्याम सुन्दर पति पावैं, यहै हमारी आस ॥१३८३॥

इसी आशा और आकांक्षा से उन्होंने शिव की आराधना की, सविता को जल चढ़ाया और उससे विनय की। उनके इस व्रत-पालन के समय यमुना में स्नान करते हुए कृष्ण ने उनसे प्रेम-पूर्ण विनोद किए, जल के भीतर-भीतर ही उनके साथ छेड़ छाड़ करके उनके प्रेम को और दृढ़ किया। फिर उपालंभ हुए, यशोदा की भिड़कियाँ सुननी पड़ीं और जब गोपियों की आसक्ति खूब बढ़ गई, तब कृष्ण ने उनके वस्त्र हरण किए। सूरदास ने चीरहरण लीला का सूत्रमात्र भागवत से लिया है, उसका घटना-विन्यास और भाव-विन्यास उनकी मौलिक प्रतिभा का द्योतक है और उसका उद्देश्य निश्चय रूप में रूपकगर्भित है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

लाज ओट यह दूरि करौ ।

....

पूरन ब्रत अब भयौ तुम्हारौ गुरुजन संका दूरि करौ ।
अब अंतर मोसौं जनि राखहु, बारबार हठ बृथा करौ ।
'सूर' स्याम कहैं चीर देत हौं, मो आगैं सिंगार करौ ॥१४०८॥

कृष्ण गोपियों का संपूर्ण आत्म-समपर्ण चाहते हैं। चीरहरण लीला उस आत्म-समपर्ण की प्रारंभिक अवस्था है। गोपियों की यह कांता भाव की रति भक्ति के आत्म-समपर्ण का ही एक रूपक है, इसका सूरदास ने बारंबार स्मरण दिलाया है। स्वय कृष्ण कहते हैं—

वर्ष भर व्रत-नेम-संजम, स्रम कियौ मोहिं काज।
कैसे हूँ मोहिं भजै कोऊ, मोहिं बिरद की लाज।
धन्य व्रत इन कियौ पूरन सीत तपति निवारि।
काम-आतुर भजी मोकौं, नव तरुनि ब्रज-नारि ॥१४०१॥

तथा

हौं अंतरजामी जानत सब, अति यह पैज करै री।
करिहौं पूरन काम तुम्हारौ, रास सरद निसि ठै री।
संतत 'सूर' स्वभाव हमारौ, कत भै काम डरै री।
कौनेहुं भाव भजै कोउ हमकौं, नित तन-ताप हरै री ॥१४०५॥

काम भाव ही गोपियों का सर्व प्रधान मनोराग है, कृष्ण उसी से उन्हें मुक्त करके निर्मल बनाना चाहते हैं। किंतु सूरदास ने चीरहरण और रासलीला के बीच अन्य अनेक प्रसंगों की उद्भावना करके गोपियों के माधुर्य भाव का और अधिक विकास दिखाया है। यज्ञपत्नी लीला तो भागवत के ही आधार पर है, किंतु उसकी प्रकृति सूरदास ने अपने कांता भाव के अधिक अनुकूल बना ली है। सांसारिक पतियों का तिरस्कार, लोक-लज्जा का परित्याग तथा कृष्ण के प्रति सहज भाव का प्रेम इन शब्दों से प्रकट होता है—

जान दै स्यामसुन्दर लौं आजु।
सुनि हौ कंत लोक-लज्जा तैं, बिगरत है सब काजु।

....

हौं तौ तुरत मिलौंगी हरिकौं तू घर बैठौ गाजु ॥१४२६॥

पुनः, पनघट के प्रस्ताव में कृष्ण गोपियों के प्रेम की परीक्षा लेते हैं तथा अपने रूप की मोहनी तथा स्वभाव की चपलता और विनोद-प्रियता से उनके कांता भाव को दृढ़ करते हैं। यहाँ भी कृष्ण की छेड़-छाड़ की शिकायतें की जाती हैं, यहाँ भी राधा के गुप्त प्रेम का ही आदर्श सम्मुख आता है, जिससे गोपियाँ प्रेरणा प्राप्त करती हैं और अंत में पुनः संकल्प करती हैं—

दृढ़ करि धरी अब यह बानि।
कहा कीजै सो नफा जेहि होय जिय की हानि।
लोक-लज्जा कांच किरिचक स्याम कंचन खानि।
कौन लीजै कौन तजिए सखि तुमहिं कहौ जानि।
मोहिं तौ नहिं और सूझत बिना मृदु मुसकानि।
रंग कापै होत न्यारौ हरद चूनौ सानि।
इहै करिहौं और तजिहौं परी ऐसी बानि।
'सूर' प्रभु पतिबरत राखैं मेटिकै कुल-कानि ॥२०७६।

किंतु 'कुल-कानि' और 'लोक-लज्जा' को सर्वथा त्याग देना इतना सरल नहीं है। इसके लिए गोपियों को कई अग्नि-परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। गर्व या अहम् के सर्वनाश बिना यह संभव नहीं है। इसी हेतु श्रीकृष्ण दानलीला का आयोजन करते हैं। दानलीला में सूरदास ने माधुर्य भाव की बड़ी सरस व्याख्या की है। इसके अत्यंत इहलौकिक ग्रामीण जैसे वातावरण में सूरदास ने अनेक बार इस लीला की उच्च आध्यात्मिक व्यंजना की है। दानलीला में कृष्ण गोपियों का आत्म-समर्पण प्राप्त कर लेते हैं, किंतु इसके लिए उन्हें स्वयं बहुत प्रयत्न करना

पड़ता है। अंत में कृष्ण उन्हें पुनः निर्भय और निर्द्वन्द्व होने का आश्वासन देते हैं। वे कहते हैं—

दान मानि घर कौं सब जाहु।

....

अब मैं कहत भली हौं तुमसौं जौ तुम मोकौं मानौ ग्वालि।
बृन्दाबन तुम आवत डरपति मैं देहौं तुमकौं पहुँचाई।
सनहु 'सूर' त्रिभुवन बस जाके सो प्रभु युवतिन के बस आई ॥२२१२॥

कृष्ण गोपियों से अपने दान का अधिकार स्वीकृत करा कर यह व्यंजित करते हैं कि उनकी काम-प्रवृत्ति एकमात्र कृष्ण की ओर उन्मुख होनी चाहिए। तभी वे अपने जीवन-पथ में निर्भय हो सकती हैं। इस लीला के फलस्वरूप गोपियों की कृष्ण-रति पूर्ण तन्मयतापूर्ण आसक्ति में परिणत हो जाती है। श्याम के प्रेम रूपी महारस में छक कर वे मतवाली हो जाती हैं—

तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोबन रस चढ़ायौ अतिहिं भई खुमारि।
दूध नहिं दधि नहीं माखन नहीं रीतौ माट।
महा रस अँग अंग पूरन कहाँ घर कहँ बाट।
मातु पितु गुरुजन कहाँ को कौन पति को नारि।
'सूर' प्रभु के प्रेम पूरन छकि रहीं ब्रज-नारि ॥२२४२॥

सूरदास ने इस लीला में गोपियों के उन्माद और प्रलाप की दशाओं का चित्रण करके उनके उत्कट प्रेम की गंभीरता की व्यंजना

की है। उनका प्रेम व्यसन की स्थिति को पहुँच रहा है, जब वे कहती हैं—

पलक ओट नहिं होत कन्हाई।
घर गुरुजन बहुतै बिधि त्रासत लाज करावत लाज न आई।
नयन जहाँ दरसन हरि अटके स्रवन थके सुनि बचन सुहाई।
रसना और नहीं कछु भाषत स्याम स्याम रट इहै लगाई।
चित चंचल संगहिं सँग डोलत लोक-लाज-मरजाद मिटाई।
मन हरि लियौ 'सूर' प्रभु तब ही तन बपुरे की कहा बसाई २२५२

इस लीला के अंतर्गत भी सूरदास ने गोपियों की आसक्ति के चित्रण के लिए अनेक छोटे छोटे प्रसंगों की उद्भावना की है। साथ-साथ वे राधा के गुप्त प्रेम का भी वर्णन करते जाते हैं और गोपियों के मन में उसके प्रति स्पर्द्धा की भावना उत्तेजित करते जाते हैं। राधा गोपियों के सम्मुख परकीया प्रेम का उच्च आदर्श रखती हैं—उस प्रेम का, जिसे यत्न के साथ छिपाया जाता है और जिसके निर्वाह में अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी स्वच्छंदता रहती है, लोक औ' शास्त्र के विधि-निषेध की चिंता नहीं की जाती। गोपियों को राधा से ईर्ष्या नहीं होती, प्रत्युत वे उनकी भूरि-भूरि सराहना करती हैं तथा उनके प्रति पूज्य भाव प्रकट करती हैं। वे कहती हैं—

राधा परम निर्मल नारि।
कहति हौं मन कर्मना करि हृदय-दुबिधा टारि।
स्याम कौं इक तुहीं जान्यौ, दुराचारिन और।
जैसें घट पूरन न डोलै, अधभरो डगडौर।

धनी धन कबहूँ न प्रगटै, धरै ताहि छपाइ ।
हौं महानग स्याम पायो, प्रगटि कैसें जाइ ।
कहित हौं यह बात तोसौं, प्रगट करिहौं नाहिं ।
'सूर' सखी सुजान राधा, परसपर मुसकाहिं ।।२४६१।।

राधा के इसी आदर्श प्रेम को प्राप्त करने की उनकी आकांक्षा है। किन्तु राधा का भाव अपना सकना अत्यंत कठिन है। सखियाँ राधा को कृष्ण-दर्शन करते देखती हैं और उनकी प्रशंसा करती हैं, किंतु राधा कहती हैं कि मैं तो उन्हें देख ही नहीं सकती, मैं उन्हें पहचानती तक नहीं हूँ। इच्छा मेरी भी है कि मैं श्याम को देख सकूँ, पर मेरे पास नेत्र कहाँ हैं—

····रोम जितने अंग नैन होते संग,
रूप लेती निदरि कहति राधा ।
स्रवन सुनि-सुनि दहै, रूप कैसैं लहै,
नैन कछु गहै, रसना न ताकैं ।
देखि कोउ रहै, कोउ सुनि रहै,
जीभु बिनु, सो कहै कहा नाहिं नैन जाकैं ।।

········।।२४७५।।

हरि-दर्शन के इसी आदर्श को सम्मुख रख कर गोपियाँ लोक-लाज और कुल की मर्यादा को तिलांजलि दे कर 'जार हरि' के मुख-कमल की भ्रमरी बन गई हैं। उनके रोम-रोम नयन हो गए और वे इतने लालची हो गए हैं कि—

बरजत मातु पिता पति बंधू , अब आवै कुल गारी

तदपि न रहत नंद नंदन बिनु, कठिन प्रकृति हरि धारी।

गोपियों की रूपासक्ति का कारण स्पष्ट है—

नख सिख सुभग स्यामसुंदर के, अङ्ग-अङ्ग सुखकारी।

'सूर' स्याम कौं जो न भजै सो, कौन कुमति है नारी ॥२६६२॥

किंतु रूप की आसक्ति से कृष्ण के मुरली-नाद की आसक्ति कम नहीं है, जिसे सुन कर गोपियाँ आत्म-विभोर हो जाती हैं—

अँखियन की सुधि भूल गईं।

स्याम-अधर मृदु सुनत मुरलिका, चक्रित नारि भाईं।

जो जैसैं सो तैसैं रहि गईं, सुख दुख कह्यो न जाइ।

लिखी चित्र की सी सब ह्वै गईं इक टक पल बिसराइ।

भवन रवन की सुधि न रही तनु, सुनत शब्द वह कान।

अँखियन तैं मुरली अति प्यारी, वै बैरिनि यह सौति।

'सूर' परस्पर कहति गोपिका, यह उपजी उदभौति ॥३२०७॥

मुरली-नाद सुनकर वे सब कुछ भूल जाती हैं और भोजन करते हुए पतियों, दूध पीते हुए बच्चों तथा माता-पिता को त्याग कर वन को चल पड़ती हैं। किंतु उनके साथ रास-क्रीड़ा करने के पहले कृष्ण एक बार फिर उनकी कठोर परीक्षा लेते हैं। वे उन्हें युवतियों का धर्म समझाते हैं—

इहिं बिधि बेद मारग सुनौ।

कपट तजि पति करौ पूजा कहा तुम जिय गुनौ।

कंत मानहु भव तरौगी और नहिं न उपाइ।

ताहि तजि क्यौं विपिन आई कहा पायौ आइ ।
विरध अरु बिन भाग हूँ कौ पतित जौ पति होइ ।
जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहीं जोइ ।
इहै मैं पुनि कहत तुम सौ जगत मैं यह सार ।
'सूर' पति सेवा बिना क्यों तरौगी संसार ।।१६३४।।

किन्तु वेद-मार्ग गोपियाँ न जानें कब का छोड़ चुकी हैं । फिर भी वे पति की भक्ति से विरत नहीं हैं । संसार में उनका श्याम को छोड़ कर कोई अन्य पति नहीं है, वे परम पतिव्रता और एकनिष्ठ नारियाँ हैं । अतः श्रीकृष्ण की ये निष्ठुर बातें सुन कर उन्हें अत्यन्त आश्चर्य और दुःख होता है । वे अत्यन्त दीन हो कर कृष्ण की शरण-याचना करने लगती हैं । वे कहती हैं कि आप तो अन्तर्यामी हैं, पराई पीर जानते हैं, अब इतने निठुर क्यों बन गए ? आपने ही पति-सेवा का आदेश दिया, उसी सेवा के लिए हम आई हैं, अब आप ही क्यों लौट जाने को कहते हैं ! हमारे तो नेत्र, श्रवण, मन—सभी केवल आप में लगे हैं—

कैसैं हमकौं ब्रजहिं पठावत ।
मन तौ रह्यौ चरन लपटानौ जौ इतनी यह देह चलावत ।
अटके नैन माधुरी मुसकनि अमृत बचन स्रवन कौं भावत ।
इन्द्री सबै मनहिं के पाछे कहौ धर्म कहि कहा बतावत ।
........।।१६४१।।

युवती गोपियों को इस सुलभ धर्म के सामने कोई दूसरा धर्म कैसे सुहाए ? कृष्ण ने बारंबार गोपियों को ऊँच-नीच दिखाया; धर्म, समाज

और कुल की मर्यादा की बातें समझाईं, किन्तु जब गोपियाँ किसी प्रकार अपने आदर्श 'पतिव्रत' से न डिगीं, तब उन्हें विश्वास हो गया कि मेरे बिना ये और किसी को नहीं जानतीं, इन्होंने विधि की मर्यादा और लोक की लज्जा तृण से भी तुच्छ समझ कर त्याग दी है और निष्कपट भाव से मुझे ही पति मान लिया है। कठिन परीक्षा में जब वे उत्तीर्ण हो गईं, तब स्वयं श्रीकृष्ण अत्यन्त कातर हो गए—

स्याम हँसि बोले प्रभुता डारि।
बारंबार बिनय कर जोरत कटि पट गोद पसारि।
तुम सम्मुख मैं बिमुख तुम्हारौ मैं असाध तुम साध।
धन्य-धन्य कहि कहि जुवतिन कौं आपु करत अनुराध ॥१६५१॥

इन गोपियों को कृष्ण ने अपने पूर्ण परमानंद रूप का रसास्वादन कराने के लिए रास-रचना की और उन्हें वह सुख दिया जो अमरों और मुनियों को ही नहीं, स्वयं नारायण और कमला तक को दुर्लभ है। कामातुर गोपियों ने कृष्ण को जिस भाव से भजा, कृष्ण उन्हें उसी भाव से मिले। वे अन्तर्यामी हैं, गोपियों के कांता भाव को जान कर वे प्रेम-विवश हो गए। उनके इच्छा करते ही आनन्द का सिंधु उछ-लने लगा जिसमें गोपियाँ मग्न हो गईं। देवता विमानों पर चढ़ कर यह सुख-रास देखते हैं और ब्रज-धाम, बृन्दावन, वंशीवट, यमुनातट, ब्रज-वासियों और ब्रज-बालाओं को सराहते हैं, जिनके सम्मुख कृष्ण ने अपना रसेश्वर रूप प्रमाणित किया। सूरदास ने यद्यपि षट्दश सहस्र गोप-कन्याओं के साथ गोपाल के षट्दश सहस्र रूप धारण करके नृत्य करने का वर्णन किया है, फिर भी उनके रास के मध्य में राधा-कृष्ण की

युगल मूर्ति ही विराजती है। राधा 'शेष, महेश, लोकेश, शुकादिक, नारदादि मुनि की स्वामिन' हैं। 'रमा, उमा, शची, अरुन्धती प्रति-दिन उन्हें देखने आती हैं'। वे 'जगनायक जगदीश की प्यारी, जगत् की जननी और जगत् की रानी हैं', वे 'नित्य गोपाल लाल के साथ वृन्दावन राजधानी में विहार करती हैं, वे भक्तों की स्वामिनी, अशरणों की शरण, भव-भय को हरण करने वाली हैं।' इसी कारण सूरदास ने रास के मध्य में 'वन भूमि' के वातवरण में ही राधा-कृष्ण के विवाह का वर्णन किया है और उनके उस अलौकिक नित्य सम्बन्ध को लोक-विधान की मान्यता प्रदान की है। किन्तु राधा और कृष्ण 'एक प्राण द्वै देह' होते हुए भी, नर देह से राधा को गर्व हो जाता है। कृष्ण इस गर्व को खंडित करने के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। राधा के साथ समस्त गोपियाँ विकल हो जाती हैं। सोलह सहस्र गोपियों के मन में एक पीड़ा है, राधा मानो जीव है, और सब गोपियाँ 'शरीर', अर्थात् विरह में गोपी-राधा एकाकार हो जाती हैं। संयोग की भाँति वियोग में भी राधा गोपियों की आदर्श हैं। कृष्ण ने जब राधा के बहाने गोपियों का गर्व खंडित कर दिया और उन्हें अत्यन्त दीन और कातर देखा तब प्रकट हो कर पुनः रासक्रीड़ा और जलक्रीड़ा का सुख दिया।

रासक्रीड़ा के अनन्तर सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रेम का बड़ा विशद और स्पष्ट वर्णन किया है। विवाहोपरांत राधा का प्रेम वैध, स्वकीया रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु भाव यह है कि अब सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के उपरांत, अहंभाव का लेशमात्र न रह जाने के उपरांत, स्वयं कृष्ण राधा की आराधना करने लगते हैं। राधा के मान, मनुहार,

विरह, मिलन और संयोग सुखों के विस्तृत वर्णनों में गोपियों के लिए मधुर भाव की भक्ति का आदर्श उपस्थित किया गया है। गोपियों को उनसे ईर्ष्या नहीं होती, अपितु वे राधा के सुख को अपना ही सुख मानती हैं, किसी के मन में तनिक भी द्विविधा नहीं रहती। श्रीकृष्ण भी इस भाव का आदर कर के गोपियों को अपने संयोग सुख की उपलब्धि कराते हैं और सूरदास ने इस सुख का वर्णन करने के लिए 'खंडिता समय' के अन्तर्गत कृष्ण का दक्षिण नायक के रूप में वर्णन किया है।

गोपियों के व्यक्तिगत सुख-विलास के वर्णन के अतिरिक्त सूरदास ने हिंडोल, फाग और होली के वर्णनों में सम्मिलित आनन्दोत्सव का चित्रण करके मधुर रस के चरमोत्कर्ष को मूर्तिमान किया है। किन्तु इस रस और आनन्द की व्यक्तिगत और सम्मिलित, दोनों प्रकार की लीला में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति केन्द्र स्थान में विराजती है। वही सूरदास की परम आराध्य मूर्ति है। सूरदास कहते हैं—

बसौ मेरे नैननि में यह जोरी।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन सँग वृषभानु किसोरी ॥१८२५॥

किन्तु कृष्ण की यह आनन्द लीला ब्रज में ही सीमित है। ब्रज से चले जाने के बाद कृष्ण का आनन्द रूप केवल गोपियों के मानसिक जगत् में शेष रह जाता है, मथुरा और द्वारका के श्रीकृष्ण में वह रूप नहीं दिखाई देता। वह रूप कितना रसमय और तन्मयकारी है, यह हमें गोपियों के विरह-वर्णन से विदित होता है। सूरदास ने जिस प्रकार

संयोग के वर्णन में भागवत से स्वतंत्र अनेक उद्भावनाएँ की हैं तथा भागवत में सूत्र रूप से वर्णित कृष्ण के रस रूप को साकार चित्रित किया है, उसी प्रकार उन्होंने वियोग-वर्णन में अपनी मौलिक प्रतिभा तथा मधुर रस की वास्तविक अनुभूति का परिचय दिया है। सूरदास के उद्धव भागवत के उद्धव से भिन्न हैं। वे अपने पांडित्य और ज्ञान के अभिमानी हैं तथा सगुण भक्ति का उपहास करते हैं। अतः श्रीकृष्ण उन्हें प्रेम-भक्ति का माहात्म्य समझाने के लिए ब्रज भेजते हैं, न कि, जैसा भागवत में कहा है, उनके द्वारा अपना संदेश भेज कर नन्द-यशोदा को सुखी करने और गोपियों को सांत्वना देने के लिए। 'भ्रमर-गीत' में सूरदास ने सोदाहरण प्रत्यक्ष रूप में कृष्ण की माधुर्य भक्ति की महत्ता प्रदर्शित की है। अपने सैकड़ों पदों में सूरदास ने इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित माधुर्य भाव को इन्द्रयातीत, शुद्ध, अशरीरी, मानसिक प्रेम-व्यसन के रूप में चित्रित किया है। सूर-दास कृष्ण के संयोग-वर्णन में अप्रतिम हैं, किन्तु विरह-वर्णन में उससे भी अधिक महान् हैं। पुष्टिमार्ग में भी कृष्ण के विप्रयोग-रसात्मक रूप को मूल रूप कहा गया है, और वही उन के संयोगात्मक अवतीर्ण-पूर्व रस की अपेक्षा श्रेष्ठतर रूप है। सूरदास ने इसी विचार को मूर्त रूप दिया है। उनकी दृष्टि में विरहासक्तिपूर्ण माधुर्य भाव ही सर्वश्रेष्ठ है, उसी में उन्होंने अनन्य, निष्काम, अविच्छिन्न कृष्ण-प्रेम चरम सीमा पर पहुँचा हुआ दिखाया है। इसी प्रेम के समक्ष उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, योग, यज्ञ, व्रत, तप, पूजा आदि सभी साधन व्यर्थ और उपहा-सास्पद हो जाते हैं। उद्धव अपना ज्ञान भूल कर गोपियों के चेले बन

जाते हैं। स्वयं कृष्ण गोपियों के भाव की गद्गद हो कर सराहना करते हैं।

सूरदास ने माधुर्य भाव को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि काम-वासना मनुष्य की सबसे प्रबल वासना होती है। इसके परिष्कार या उदात्तीकरण के बिना मनुष्य संसार के बंधनों से मुक्त नहीं हो सकता। मध्ययुग के संतों ने इसी भाव से नारीमात्र को गर्हित और भयंकर कह कर उसके प्रभाव से बचने का उपदेश दिया था। किन्तु उनका दृष्टिकोण निषेधात्मक, अतः अपेक्षाकृत अव्यवहार्य था। कृष्ण-भक्ति में माधुर्य भाव के रूप में निषेध और दमन के स्थान पर काम-वासना के परिष्कार का विधान है। मनुष्य यदि अपनी सब से बड़ी दुर्बलता को कृष्णोन्मुख करके श्रेष्ठ बना ले तो उसे किसी बात का भय नहीं रहता और न किसी अन्य साधन की आवश्यकता रहती है। इसी भाव से गोपियों ने सगुण भक्ति के समक्ष ज्ञान, योग, तप, यज्ञ आदि की निंदा की है।

माधुर्य भाव के अतिरिक्त सूरदास ने वात्सल्य को भी भक्ति में बहुत उच्च स्थान दिया है। वात्सल्प स्नेह मनुष्यमात्र की एक सहज प्रवृत्ति है, साथ ही मनुष्य को संसार में लिप्त कराने के लिए संतान का मोह भी एक ऐसा प्रबल कारण है जिसका अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन होता है।

वात्सल्य

अतः यह उचित ही है कि इस प्रवृत्ति को भी कृष्णोन्मुख करके परिष्कृत रूप दे दिया जाय। वास्तव में 'वार्ता' के अनुसार सूरदास को दीक्षा देते समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण की बाल-लीला पर ही उनका

ध्यान अधिक आकृष्ट किया था। फलतः, सूरदास ने वात्सल्य भाव के ही पद रच कर उन्हें सुनाए थे। प्रारम्भ में, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, पुष्टिमार्गीय पद्धति में गोपाल कृष्ण के बाल रूप की ही अधिक मान्यता थी। श्रीमद्भागवत में तो कृष्ण की बाल-लीला का चित्रण था ही। सूरदास ने सम्प्रदाय से प्रेरणा तथा भागवत से आधार ले कर कृष्ण के ब्रह्म रूप और बाल चरित्र का अत्यन्त विशद, विस्तृत और स्वाभाविक चित्रण किया और उसके द्वारा यशोदा और नन्द के वात्सल्य भाव की सरस अभिव्यक्ति की।

यशोदा और नन्द का वात्सल्य कृष्ण के गोकुल में प्रकट होने से ले कर उनके मथुरा-गमन तक के अनेक प्रसंगों और घटनाओं के द्वारा प्रकट हुआ है जिसमें उन के सरल, भावप्रवण और स्नेहशील व्यक्तित्व चित्रित हुए हैं। कृष्ण की प्रत्येक चेष्टा, जिसे सूरदास पूर्ण मानवीय स्वाभाविकता के साथ अंकित करते हैं, माता-पिता के मन में स्नेह का उद्रेक करती है। शैशव काल से ही कृष्ण की द्विविध लीला प्रारम्भ हो जाती है। एक ओर वे अपनी दैनिक चर्या में सोते, जागते, हँसते, किलकते, रोते, अंग-संचालन करते हुए ऐसी ललित और मधुर चेष्टाएँ करते हैं कि यशोदा, नंद तथा अन्य वयस्क नर-नारी सहज ही उनके प्रति अनुकंपा रति से अभिभूत हो जाते हैं; दूसरी ओर वे पूतना, कागासुर, तृणावर्त, शकटासुर आदि का संहार करके अपने अतिप्राकृत रूप की व्यंजना करते हुए अपने मर्यादा रूप की महत्ता का भी संकेत करते जाते हैं। किन्तु कृष्ण के इन कृत्यों का सूरदास ने बड़ी कुशलता से वर्णन किया है। असुरों का वध वे खेल खेल में ही

अनायास कर डालते हैं जिससे उनके पराक्रम की नहीं, उनके विस्मय-जनक विनोद की व्यंजना होती है। और, इस विस्मय में भी आतंक की मात्रा न्यून और उसका प्रभाव क्षणिक होता है। दूसरे, ये घटनाएँ कृष्ण की वात्सल्यव्यंजक रस लीला के बीच कभी कभी घट जाती हैं, अतः उनके द्वारा वात्सल्य के सहज वातावरण में केवल इतना ही व्याघात पड़ता है कि कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व का संकेत मिलता जाय, वैसे, यशोदा आदि का वात्सल्य निरंतर अक्षुण्ण रहता है, वे असुर संबंधी घटनाओं को प्रायः संयोग-प्राप्त संकट ही समझती हैं और अनेक प्रकार चिंता, आशंका आदि प्रकट करती हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

हरि किलकत जसुदा को कनियां।
निरखि-निरखि मुख कहति लाल सौं मो निधनी के धनियाँ।
अति कोमल तन चितै स्याम कौ बार-बार पछितात।
कैसैं बच्यौ जाउँ बलि तेरी तृनावर्त कैं घात।
ना जानौं धौं कौन पुन्य तैं, को करि लेत सहाइ।
वैसौ काम पूतना कीन्हौ, इहिं ऐसौ कियौ आइ।
माता दुखित जानि हरि बिहँसे, नान्हीं दँतुलि दिखाइ।
'सूरदास' प्रभु माता चित तैं दुख डारयौ बिसराइ ॥६६६॥

इसी प्रकार कृष्ण अपनी स्वाभाविक बाल-क्रीडाओं के द्वारा वात्सल्य भाव को निरंतर अक्षुण्ण रखते हैं। यशोदा का स्नेह भी इतना दृढ़ है कि वे कृष्ण के मुख में तीनों लोकों का दर्शन करके भी उन्हें अपने नन्हें पुत्र से अधिक कुछ नहीं समझतीं—

हरि किलकत जसुमति की कनियाँ ।
मुख में तीन लोक दिखराए, चकित भई नँदरनियाँ ।
घर घर हाथ दिखावति डोलति, बाँधति गरैं बघनियाँ ।
'सूरदास' की अद्भुत लीला, नहिं जानत मुनिजनियाँ ।।७००।।

कालिय-दमन लीला में नंद और यशोदा के वात्सल्य में घोर व्यग्रता, आशंका और चिन्ता प्रकट हुई तथा कृष्ण के अद्भुत पराक्रम को देख कर विस्मय भी कम नहीं हुआ। कृष्ण ने जो कार्य किया, क्या वह कोई साधारण बालक कर सकता था ! किन्तु कालिय नाग जैसे महा विषधर के फनों पर नाचते हुए कृष्ण को प्रत्यक्ष देख कर भी यशोदा का वात्सल्य खंडित नहीं होता—

लीन्हौ जननि कंठ लगाइ ।
अंग पुलकित, रोम गदगद, सुखद आँसु बहाइ ।
मैं तुम्हहि बरजति रही हरि, जमुन-तट जनि जाइ ।
कह्यो मेरौ कान्ह कियौ नहिं, गयौ खेलत धाइ ।

इस पर कृष्ण उत्तर देते हैं—

कंस कमल मँगाइ पठए तातैं गयउँ डराइ
मैं कह्यौ निसि सुपन तो सौं, प्रगट भयौ सु आइ ।
ग्वाल-सँग मिलि गेंद खेलत, आयौ जमुना तीर ।
काहु लै मोहि डारि दीन्हौं, कालिया-दह नीर ।
यह कही तब उरग मोसों, किन पठायौ तोहिं ।
मैं कही नृप कंस पठयौ कमल कारन मोहिं ।

यह सुनत डरि कमल दीन्हौ, लियौ पीठि चढ़ाय।

'सूर' यह कहि जननि बोधी, देख्यौ तुमहीं श्राइ ॥११६६॥

इसी प्रकार गोवर्धन-धारण जैसा अद्भुत पराक्रमपूर्ण कार्य करने के बाद यशोदा चकित हो कर भी वात्सल्य में दृढ़ रहती हैं—

(तेरैं) भुजन बहुत बल होइ कन्हैया।

बार बार भुज देखि तनक से, कहति जसोदा मैया।

स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी ग्वालनि कियौ सहैया।

लकुटनि टेकि सबनि मिलि राख्यौ अरु बाबा नँदरैया।

मोसौं क्यों रहतौ गोबरधन अतिहिं बढ़ौ वह भारी।

'सूरदास' यह कहि परबोध्यौ देखि चकृत महतारी ॥१५८३॥

कृष्ण की उद्धार और संहार की लीला के अतिरिक्त उनकी मधुर लीला भी वात्सल्य भाव में प्रायः व्याघात डालती दिखाई देती है। व्रज की युवती और किशोरी गोपियाँ यशोदा के पास कृष्ण की 'अच-गरी' के उलाहने ले आती हैं और ऐसी-ऐसी बातें कहती हैं जो कृष्ण के बाल-सुलभ चरित्र से सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु यशोदा उन बातों पर कभी विश्वास नहीं करतीं और उलटे, उलाहने लाने वाली गोपियों पर ही आश्चर्य, क्षोभ और रोष प्रकट करती हैं। दानलीला में कृष्ण की उद्धतता के उलाहने लाने वाली गोपियों से यशोदा कहती हैं—

मैं तुम्हरे मन की सब जानी।

आपु सबै इतराति फिरति हौ दोषन देति स्याम कौं आनी।

मेरौ हरि कहँ दसहिं बरस कौ तुम्हारी यौवन मद उमदानी।

लाज नहीं आवति इन लँगरिनि कैसैं धौं कहि आवत बानी।

आपुहिं हार तोरि चोलीबँद उर नख घात बनाइ निसानी।
हाँ कान्ह की तनक अँगुरियाँ यह कहि बारबार पछितानी।
देखहु जाइ और काहू कौ हरि पर सबै रहतिं मँडरानी।
'सूरदास' प्रभु मेरौ नान्हौ, तुम तरुनी डोलतिं अठिलानी ॥२१०८॥

कृष्ण के दश वर्ष के होने का गोपियाँ प्रतिवाद करती हैं—

हरि जानत हैं मंत्र तंत्र सीखौ कहुँ टौना।
बन में तरुन कन्हाइ घरहि आवत हैं छौना।
दिवस एक किन देखहू अन्तर रहौ छपाइ।
दस कौ है धौं बीस कौ नैननि देखौं जाइ।

किंतु यशोदा रोषपूर्वक उत्तर देती हैं—

जाहु चली घर आपु नैन भर हम देख्यौ है।
तीस बीस दस बरस एक दिन सब लेख्यौ है।
डीढि लगावतिं कान्ह कौं जरैं गरैं वे आँखि।
धींगरि धिंग चाँचरि करैं मोहिं बुलावतिं साखि।

गोपियाँ यशोदा के ढंग से हैरान और दुखी हो कर कहती हैं—

धींग तुम्हारौ पूत धींगरी हमकौ कीन्हीं।
सुत कौं हटकति नाहिं कोटि इक गारी दीन्हीं।
महतारी सुत दोउ बने वै मग रोकत जाइ।
इनहिं कहन दुख आइए ये सब कौ उठतिं रिसाइ।

यशोदा को संभवतः गोपियों से किंचित् सहानुभूति होती है, किंतु वह बेचारी करे क्या! गोपियों की बातें उसकी समझ में ही नहीं आतीं। तरुणियों की बात वात्सल्यमयी माता कैसे समझे! वह स्वयं

हैरान होकर कहती है—

कहा करौं तुम बात कहूँ की कहूँ लगावति।
तरुनिन यहै सोहात मोहि कैसैं यह भावति।
बहुत उरहनौ मोहिं दियौ, अब ऐसौ जनि देहु।
तुम तरुनी हरि तरुन नहिं मन अपनैं गुनि लेहु ॥२१०६॥

गोपियाँ निरुत्तर हो जाती हैं। न गोपियों का भाव यशोदा जानती हैं और न यशोदा का भाव गोपियों की समझ में आ सकता है। जिस प्रकार माधुर्य भाव अपने में पूर्ण है, उसी प्रकार वात्सल्य भाव भी किसी अन्य स्थायी भाव को सहन नहीं कर सकता।

संयोगावस्था में अनुकंपा रति हर्ष, आशंका, विस्मय, खेद, पश्चात्ताप, अमर्ष, चिन्ता, व्याकुलता, अधैर्य आदि अनेक आनुषंगिक भावों के द्वारा परिपुष्ट हो कर 'वात्सल्य' रस में निष्पन्न होती है। सूरदास इस क्षेत्र में अप्रतिम हैं। संभवतः किसी भाषा में वात्सल्य का ऐसा विशद, स्वाभाविक और समर्थ चित्रण नहीं हुआ। संयोग की भाँति वियोग में भी यशोदा और नन्द अपने भाव को अक्षुण्ण रखते हैं। नन्द भले ही कभी-कभी कृष्ण की अलौकिकता पर विश्वास करके आतंकित हो जाएँ, कृष्ण के प्रति साधारण दैन्यपूर्ण भक्ति भाव प्रकट करने लगें, पर यशोदा के वात्सल्य में तो कभी भी व्यतिक्रम नहीं आने पाता। जब तक कृष्ण ब्रज में रहते हैं, यशोदा अत्यंत सुखी रहती हैं, किन्तु वियोग के समय उनके समान कोई दीन नहीं है। गोपियाँ तो उद्धव के साथ व्यंग्य-उपहास के द्वारा अपने भाव और प्रेमोद्गार व्यक्त भी कर लेती हैं और इस प्रकार उनका जी हलका हो जाता है, किन्तु

यशोदा को तो अपनी वेदना मौन रह कर ही सहनी पड़ती है। वियोगावस्था में उनका वात्सल्य अत्यन्त करुण और दीन बन जाता है। कभी वे अक्रूर से प्रार्थना करती हुई सुनी जाती हैं, कभी स्वयं कृष्ण के प्रति दीन वचन कहती हैं, कभी किसी पंथी के हाथ अपनी करुणा का संदेश भेजना चाहती हैं और कभी नंद के साथ परस्पर दोषारोपण करके अपने हृदय की पीड़ा व्यक्त करती हैं, किन्तु उद्धव से कुछ नहीं कह पातीं। अंत में केवल उन्हें इतनी आकांक्षा रह जाती है कि कृष्ण-बलराम जहाँ कहीं रहें, कुशल-क्षेम से रहें।

वात्सल्य भाव हार्दिक भाव है, ऐंद्रिय नहीं। कृष्ण की बाल लीला और उनके बाल रूप से वह उद्दीप्त अवश्य होता है, पर उसके आश्रय बहुत थोड़े हैं। यशोदा और नंद के अतिरिक्ति बहुत कम लोगों में उसका विकास दिखाया गया है। अन्य वयस्क ब्रजवासियों के वात्सल्य भाव में प्रायः कृष्ण के माहात्म्य-ज्ञान से दैन्यपूर्ण भक्ति-भावना का मिश्रण हो जाता है। स्वयं नंद का भाव इस प्रकार से मिश्रित हुआ दिखाया गया है। अतः यशोदा में वात्सल्य की गंभीरता माधुर्य से कम न होते हुए भी इस भाव की पात्रता अत्यन्त सीमित है। सम्भवतः सूरदास ने वात्सल्य की सीमाओं का अनुभव कर के ही माधुर्य का इतना विस्तार किया है।

गोपाल कृष्ण के लीला-वर्णन में सूरदास ने कृष्ण-प्रेम का चित्रण जिन विविध भावों के सहारे किया है उनमें माधुर्य और वात्सल्य के उपरांत सख्य का ही स्थान है। यह प्रसिद्ध है कि

सख्य

स्वयं सूरदास की भक्ति सखा भाव की थी। पुष्टिमार्ग

में वे श्रीनाथ जी के अष्ट सखाओं में अग्रगण्य हैं। संभवतः इसका यही तात्पर्य है कि सूरदास ने कृष्ण-लीला का वर्णन अत्यन्त आत्मीयता और घनिष्ठता के साथ किया है। उनकी लीला का गुह्य रहस्य वे जानते हैं, मानो वे कृष्ण के उन अंतरंग सखाओं के समान हैं जो यह भी जानते हैं कि कृष्ण और राधा का प्रेम नित्य और सनातन है। दानलीला में भी कृष्ण की प्रकृति और स्वभाव के ये अंतरंग सखा सदैव उनके साथ रहते हैं। राधा जब लोक-उपहास और कुल-निंदा की बात कहती हैं, तब वे कहते हैं—

....सुनहु ग्वारि इक बात सुनावौं जो तुम्हरे मन आवै।
तुव प्रति अंग-अंग की सोभा देखत हरि सुख पावैं।
तुम नागरी नवल नागर वै दोउ मिलि करहु विहार।
'सूर' स्याम स्यामा तुम एकै कहा हँसिहै संसार ॥२१७६॥

सूरदास ने अपने आराध्य के साथ यह अंतरंग और घनिष्ठ सम्बन्ध उस दूरी का अनुभव करके ही किया था जो वे दैन्य भाव में बराबर अनुभव करते थे। संभवतः दास्य प्रीति के स्थान पर सख्य प्रेम अपनाने का संकेत उन्होंने रासलीला में किया है—

तुमहीं मोकौं ढीठ कियौ।
नयन सदा चरनन तर राखे सुख देखत नाहिं गनत [illegible]
प्रभु तुम मेरी सकुच मिटाई जोइ सोइ माँगत पे[illegible]
मागौं चरन सरन वृन्दावन जहाँ करत नित केलि।
यह बाणी भजन की स्रवन बिन सुनत बहुत सरमाऊँ।
श्री बृषभानु सुता पति सेऊं 'सूर' जगत भरमाऊँ ॥१७९५॥

इस प्रकार की घनिष्ठता के बिना कृष्ण-प्रेम का संपूर्ण भेद कैसे खुल सकता ? गोपाल कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के चित्रण में सख्य प्रेम का चित्रण स्वाभाविक है। सूरदास ने इस प्रेम को भी मन के स्थायी भाव के रूप में इस प्रकार चित्रित किया है कि जिससे वह किसी अन्य भाव के अधीन न समझा जाए। कृष्ण अपने सखाओं के देखते-देखते कभी वक, कभी अघ, कभी धेनुक, कभी वृषभ, कभी केशी और कभी मुष्टिक, चाणूर आदि का संहार करते हैं, सखागण उनके कृत्यों को देख कर स्तम्भित हो जाते हैं, कभी-कभी वे यह सोच कर भयभीत भी होने लगते हैं कि कृष्ण कोई देव पुरुष हैं और सम्भवतः हम से भिन्न हैं। फिर भी कृष्ण अपनी स्वाभाविक मानवीय क्रीड़ाओं के द्वारा उनके सख्य भाव की घनिष्ठता को पुनः स्थापित कर देते हैं। सखाओं के साथ कृष्ण जिस उत्फुल्ल आनन्द का अनुभव करते हुए दिखाए गए हैं वह अत्यन्त स्वच्छन्द, स्वच्छ और निर्मल है, उसमें मन का कोई विकार नहीं दिखाई देता—

चरावत वृन्दाबन हरि धैनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु।
कोउ गावत, कोउ मुरलि बजावत, कोउ विषान, कोउ बैनु।
कोउ निरतत, कोउ उघटि तार दै, जुरि ब्रज बालक सैनु।
त्रिविध पवन जहँ बहत निसा दिन सुभग कुञ्ज घन ऐनु।
'सूर' स्याम निज धाम बिसारत, आवत यह सुख लैनु॥१०६६॥

इसी सुख के कारण कृष्ण को वृन्दावन का गोचारण इतना भाता है कि उसके सम्मुख वे कामधेनु, कल्पवृक्ष, रमा और वैकुण्ठ—सभी

कुछ भूल जाते हैं। यह सुख और आनन्द की अतिशयता ही है जिसके कारण ग्वाल-सखाओं को कभी-कभी आशंका होने लगती है कि कहीं कृष्ण हमें छोड़ कर चले न जायँ, फिर भी गोप बालक उनके साथ सदैव घनिष्ठता और आत्मीयता का ही व्यवहार करते हैं। स्वयं कृष्ण उनकी आत्मीयता की रक्षा करते रहते हैं। विकारहीन आनन्द की शुद्ध स्थिति अपने उत्कृष्टतम रूप में मुरली-वादन में प्रकट होती है और उसका अविकृत आनन्द केवल गोप सखाओं को मिलता है। मुरली के प्रति आनन्द के अतिरिक्त उनका कोई भाव नहीं है। इसी से वे उस आनन्द के लिए सदैव लालायित रहते हैं। कृष्ण की आनन्द-लीला के अन्त होते-होते गोप सखा मुरली बजाने के लिए मर्मस्पर्शी प्रार्थना करते हैं—

छबीले मुरली नैंकु बजाउ।
बलि बलि जात सखा सब कहि कहि अधर सुधा रस प्याउ।
दुर्लभ जनम, दुर्लभ बृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिए बहुरि कब ह्वै है स्याम तुम्हारौ संग।
बिनती करहिं सुबल श्रीदामा सुनहु स्याम दै कान।
जा रस कौं सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान।
कब पुनि गोप वेष ब्रज धरिहौ, फिरिहौ सुरभिन साथ।
कब तुम छाक छीनि कै खैहौ ह्वै गोकुल के नाथ।

यह कहते-कहते गोप सखाओं ने अपनी कंधे की कमरी बिछा ली और नंद बाबा की सौगंध दिला कर कृष्ण के पैर पकड़ लिए। तब—

सुनि सुनि दीन गिरा मुरलीधर चितयौ मृदु मुसकाइ।

गुन गम्भीर गुपाल मुरलि प्रिय लीन्ही तबहिं उठाइ।
धरि कर बेनु अधर मन मोहन कियौ मधुर ध्वनि गान।
मोहे सकल जीव जल थल के सुनि बारे तन प्रान।....॥१८३४॥

कृष्ण की अन्य भावों की लीला की भाँति उनकी गोचारण और गोप सखाओं के साथ क्रीड़ा-विनोद की लीला का आनन्द भी ब्रज में ही सीमित है। मथुरा जा कर, बल्कि अक्रूर के आगमन के समय से ही गोपों के प्रिय सखा कृष्ण ऐसे बदल जाते हैं कि आश्चर्य होने लगता है। मथुरा से लौट कर सखागण व्यंग्य से कहते हैं—

भए हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाइ।
सूत मागध बदत बिरुदनि, बरनि बसुद्यौ तात।
राज-भूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात।
मातु पिता बसुदेव देवै, नंद जसुमति नाहिं....॥३७५६॥

ऐसे मधुपुरी के राजा के साथ आत्मीयता नहीं हो सकती। सखाओं को तो नंद और यशोदा के अहीर बाल ही प्रिय हैं।

सूरदास ने एक ही गोपाल कृष्ण के प्रति माधुर्य, वात्सल्य और सख्य भाव की प्रेम-भक्ति चित्रित करके भाव की महत्ता प्रतिष्ठित की है। भाव-मात्र अपने चरम रूप में श्रेष्ठ है और उसी में मनुष्य को अपने भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। स्वयं श्रीकृष्ण को उन्होंने भावातीत चित्रित किया है। किन्तु मूलरूप में भावातीत होते हुए भी वे भक्त के अनुकूल उसे प्राप्त हो जाते हैं। जो नन्हें बाल कृष्ण यशोदा के वात्सल्य के आलम्बन हैं, वे ही गोपियों में माधुर्य भाव जगाते हैं और साथ-साथ सखाओं में

भावातीत श्रीकृष्ण

सख्य प्रेम की वृद्धि करते हैं। ऐसा कभी नहीं होता जब यशोदा कृष्ण को वात्सल्य से भिन्न किसी अन्य भाव से देखने लगे अथवा गोपियाँ अपने माधुर्य में कोई अन्तर स्वीकार कर लें। सभी भावों के कृष्ण स्वतः पूर्ण हैं, फिर भी वे इन सबसे परे हैं। अक्रूर के ब्रज आने पर उन्होंने ऐसा व्यवहार किया, मानो वे पहले से ही उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। नंद, यशोदा तथा सभी नर-नारी उनके इस विलक्षण व्यवहार को देख कर चकित रह गए, किन्तु—

पारब्रह्म अविगत अविनासी, मायारहित अतीत ।
मनौ नहीं परिचानि कहूँ की, करत सबै मन भीत ।
बोलत नहीं नैकु चितवत नहिं, सुफलक सुत सौं पागे ।
'सूर' हमैं हित करि नृप बोले, यहै कहत ता आगे ॥३५७५॥

उन्हें अब ब्रज के लोगों की व्याकुलता की तनिक भी चिन्ता नहीं है—

....कौन माता, पिता को है, कौन पति, को नारि ।
हँसत दोउ अक्रूर के सँग, नवल नेह बिसारि ॥३५७६॥

इसके बाद कृष्ण के संपूर्ण चरित्र में निरन्तर एक गौरव की भावना चित्रित की गई है। भाव-परिवर्तन का चित्रण करके सूरदास ने यही व्यंजित किया है कि कृष्ण पूर्णरूपेण भाव की प्रतिमा हैं। स्वयं न वे बालक हैं, न तरुण, न प्रेमी हैं, न प्रेम-पात्र। उनकी मूर्ति एकमात्र भक्त की भावना और अनुभूति पर आश्रित है। सूरदास की भावना और अनुभूति के कृष्ण सुन्दर, सुकुमार, कोमल, मधुर, विनोदी, चंचल, रसिक, क्रियाशील, गतिमान और अद्भुत लीलाधारी हैं।

सखा भाव से उन्हें अत्यन्त निकटता से देखने पर वे सहज ही प्रिय लगने लगते हैं, किन्तु यशोदा उन्हें जिस प्राकृत अनुराग से अपनाती हैं, वह अप्रितम है। उस अनुराग की तीव्रता और तल्लीनता में मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही नहीं, बुद्धि और आत्मा भी लीन हो जाती है। यशोदा का स्नेह स्पृहणीय है, पर अनुकरणीय नहीं। कृष्ण को पुत्र रूप में पा कर उनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करने का सौभाग्य किसे मिल सकता है? गोपियों का प्रेम भी दुर्लभ है, किन्तु कृष्ण का अभिनव सौन्दर्य और उनकी मनोहर लीला सौन्दर्य-वृत्ति को सहज ही तल्लीन कर लेती है और हम उनके साथ अपने मन के सबसे अधिक कालुष्यपूर्ण भाव को उज्ज्वल बना सकते हैं। इस मधुर रस में जो स्वाद है, वह अवर्णनीय है।

प्रेम-भक्ति के ये विविध भाव इहलौकिक लगते हैं, पर हैं लोकातीत और उनका अवसान वैराग्य की उस चरम स्थिति में ही होता है जिसमें संसार के किसी पदार्थ के प्रति मन में कोई विकार नहीं रह जाता, जब भावना और अनुभूति के सहारे उस आनंद की उपलब्धि हो जाती है जिसके लिए ज्ञानी लालायित रहते हैं। इसीलिए सूर ने इस प्रेम-भक्ति के मार्ग में ज्ञान, वैराग्य, कर्मकांड आदि धर्म के दूसरे साधनों का प्रत्याख्यान किया है और भक्ति को इतना पूर्ण बताया है कि उसमें साधन और साध्य दोनों एकाकार हो जाते हैं। आनन्द की उपलब्धि के अनंतर मनुष्य को और क्या प्राप्य रहता है? जिसे पूर्ण परमानन्द कृष्ण ब्रह्म की शरण मिल गई, उसे सभी कुछ प्राप्त हो गया। अतः सर्वात्मसमर्पणयुक्त प्रेममूलक भक्ति-धर्म भगवान् कृष्ण के

निम्न वचनों के अनुकूल है—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

६

भाव-सौन्दर्य

सूरदास के जीवन-वृत्त से उनके भाव-विकास का परिचय मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में उनका भाव-लोक मायावाद, मिथ्यावाद, और वैराग्यवाद से आक्रांत था। चंचल मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के दमन और निरोध का अभ्यास करने के लिए ही वे सतत प्रयत्नशील थे। जब सम्पूर्ण बाह्य जगत् जिसके सम्पर्क से मानव मन में विविध भाव उदय होते हैं मिथ्या और सारहीन है, तब उन भावों का ही क्या महत्त्व है? इस परिस्थिति में दुर्बल मानव के पास केवल यही आश्रय रह जाता है कि वह अपने करुणामय भगवान् से मन को शुद्ध करने की सतत याचना करे। उस युग में किसी भी आदर्शवादी व्यक्ति के लिए यही मनोभाव अपनाना स्वाभाविक था। प्रारंभ में सूरदास इसी वैराग्य की भावना से प्रेरित हो कर हरि-भक्ति की ओर उन्मुख हुए थे। एक ओर वे सहज विषयोन्मुख मन को संसार के रूप, रंग, रस, गंध और स्पर्श के प्रलोभनों से दूर रहने का उपदेश देते हैं और दूसरी ओर भगवान् की सहायता की याचना करते हैं—

रे मन आपुकौं पहिचानि।
सब जनम तैं भ्रमत खोयौ अजहुँ तौ कुछ जानि।
ज्यौं मृगा कस्तूरि भूलै, सु तौ ताकैं पास।
भ्रमत हीं वह दौरि ढूंढ़ै, जबहिं पावै बास।

भरम ही बलवंत सब मैं, ईश हू कैं भाइ ।
जब भगत भगवंत चीन्है, भरम मन तैं जाइ ।
सलिल लौं सब रंग तजि कै, एक रंग मिलाइ ।
'सूर' जो द्वै रंग त्यागै, यहै भक्त सुभाइ ॥७०॥

अथवा—

माधौ जू, मन हठ कठिन पर्‌यो ।
जद्यपि विद्यमान सब निरखत, दुःख समीर भर्‌यो ।
बार-बार निसिदिन अति आतुर, फिरत दसौं दिसि धाए ।
ज्यौं सुक सेमर फूल बिलोकत, जात नहीं बिनु खाए ।
जुग-जुग जनम, मरन अरु बिछुरन, सब समुझत मत-भेव ।
ज्यौं दिनकरहिं उलूक न मानत, परि आई यह टेव ।
हौं कुचील, मतिहीन सकल बिधि, तुम कृपालु जग जान ।
'सूर'-मधुप निसि कमल-कोष बस, करौ कृपा-दिन-भान ॥१००॥

संसार के सभी रंग मनुष्य को भ्रम में डालते हैं, अतः मन को चारों ओर से समेट कर एक भगवंत में सीमित करना आवश्यक है—उन भगवंत में जो सलिल की भाँति रंगहीन है।

परंतु दमन का यह मार्ग न तो भक्ति के लिए स्वाभाविक था और न काव्य के लिए सहायक। हम अनुमान कर सकते हैं कि सूरदास किसी ऐसे मार्ग की खोज में थे जिस पर चल कर वे अपने भावसंकुल हृदय को खोल सकें। मध्ययुग के युग-धर्म ने ऐसे ही मार्ग का निर्माण किया। सूरदास ने कदाचित् उसका प्रत्यक्ष संदेश महाप्रभु वल्लभ के द्वारा पाया। आचार्य वल्लभ की आत्मसमर्पणयुक्त प्रेम-भक्ति का

परिचय पाने के बाद सूरदास को अपने पीड़ित, दमित और आक्रांत मन को मुक्त करने का अवसर मिल गया। रंग-रूपात्मक मनोहर जगत की असारता और अयथार्थता मिट गई। जगत् कृष्ण-ब्रह्म के ही सत् अंश तथा जीव उनके चित् अंश के रूप में गृहीत हुए, अतः जीवन अभिशाप नहीं रहा। हरि की कृपा से उनके आनंदांश की क्षणिक अनुभूति भी जीवन को वरदान बनाने के लिए पर्याप्त समझी गई। सूर को विश्वास हो गया कि जिस बाह्य जगत् में तथा जिन जीवों के सान्निध्य में पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म आनंद-लीला करते हैं वह जगत् तथा वे जीव पूर्ण कृष्णमय होने के कारण कृष्ण के समान ही पूज्य हैं। उस आनंद लोक के समस्त भाव सत्य हैं, सहज ही आकर्षण करने योग्य सौंदर्य से परिवेष्टित हैं तथा अविद्याजन्य संसार से अनायास मुक्त करके परम कल्याण की उपलब्धि में स्वतः सहायक हैं। कृष्ण के रूप और कृष्ण की लीला से परिचित होने के बाद संसार के प्रलोभन भ्रम में नहीं डाल सकते, मन की गति अधोगामी नहीं हो सकती तथा सबसे बड़ी बात यह होती है कि न तो इंद्रियों को आकर्षित करने वाले रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श को त्यागने की आवश्यकता होती है और न इनके विषयों में भटकने वाली चंचल चित्त-वृत्तियों के दमन का प्रयत्न करना पड़ता है। मन और इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति कृष्ण के रूप और उनकी लीला में पूर्ण परितृप्ति पा जाती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से मनोविकारों का परिष्कार हो जाता है।

कृष्ण के सम्बन्ध से सूर का भाव-लोक नवीन स्फूर्ति और उल्लास

से आंदोलित हो उठा। उसमें उनकी अनुपम काव्य-प्रतिभा ने असंख्य रूपों की सृष्टि की, अगणित व्यापारों की उद्भावना की तथा उसे विचित्र क्रीड़ा-क्रियाओं से गतिमान कर दिया। सौंदर्य की उपासना, जो काव्य का आधार है, भक्ति का भी आधार हो गई। सूर की यह सौन्दर्य-सृष्टि श्रीकृष्ण के आनन्द-काय से उद्भूत है, वे ही समस्त भावों के आलम्बन हैं। सूर की सर्वोच्च कल्पना के श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं। पर ब्रह्म मूलतः अद्वैत, अज, निर्गुण, सनातन तथा अन्तर्यामी है, यथा—

भाव के आलंबन

१. **पहलै हौं ही हो तब एक।**
अमल, अकल, अज, भेद-बिवर्जित, सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि, सोभित नाना भेष।
ता पाछैं इन गुननि गए तैं, हौं रहिहौं अवसेष....॥३८१॥

२.... **आदि सनातन, परब्रह्म प्रभु, घट-घट अंतरजामी।**
सो तुम्हरैं अवतरे आनि कै, सूरदास के स्वामी ॥७०४॥

३. **गन गंधर्व देखि सिहात।**
धन्य ब्रज-ललनानि कर तैं, ब्रह्म माखन खात।
नहीं रेख न रूप नहिं, तनु बरन नहिं अनुहारि।
मात पितु दोऊ न जाके, हरत मरत न जारि।
आपु करता आपु हरता, आपु त्रिभुवन नाथ।
आपु हीं सब घट के व्यापी, निगम गावत गाथ।
अंग प्रति-प्रति रोम जाकै, कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड।

कीट ब्रह्म प्रयंत जल-थल, इनहिं तैं यह मराड।
विस्व बिस्वंभरन एई ग्वाल संग विलास ।
सोई प्रभु दधि दान माँगत धन्य सूरजदास ॥२२२१॥

एक से अनेक होने की इच्छा से ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा चराचर जगत् की सृष्टि करता है और नाना रूपों में प्रकट होता है। किंतु कृष्ण ब्रह्म का आनंद रूप केवल ब्रज में प्रकट होता है। वह रूप भी नित्य और सनातन ही है तथा ब्रज और उसकी समस्त सृष्टि नित्य और सनातन है—

नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रज-बाम।
नित्य रास जल नित्य बिहार। नित्य मान खंडिताऽभिसार।
ब्रह्म रूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येई सार ।
नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर नित्यहि त्रिबिधसमीर झकोर।
सदा बसंत रहत जहँ बास । सदा हर्ष जहँ नहीं उदास....॥३४६१॥

अपने इसी आनन्द रूप में श्रीकृष्ण गोप-गोपिकाओं के साथ ब्रज में अवतार लेते हैं। वृन्दावन की शोभा अद्भुत है—

वृन्दावन निजधाम कृपा करि, तहाँ दिखायौ।
सब दिन जहाँ बसन्त कल्पबृक्षनि सों छायौ ।
कुंज अद्भुत रमनीक तहँ, बेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोबर्धन धातुमय, झरना झरत सुभाए ।
कालिंदी जल अमृत प्रफुल्लित, कमल सुहाए।
नगनि जटित दोऊ कूल, हंस सारस तहँ छाए ।
क्रीडत स्याम किसोर तहँ लिए गोपिका साथ....॥१९६३॥

श्रीकृष्ण की यह परम सुन्दर कल्पना प्रेम के अनेकानेक भावों का आलंबन बन सकती है। शिशु, बालक और किशोर अवस्थाओं में सौंदर्य का उत्तम चित्रण श्रीकृष्ण के रूप में किया गया है—श्रीकृष्ण रूप, रस, आनन्द, सुख, यौवन, गुण, शील, यश, करुणा, विद्या, बल, कौशल, नीति आदि सभी के पुंज है—

स्याम सुख-रासि रस-रासि भारी।
रूप की रासि, गुन-रासि, जोबन-रासि,
थकति भईं निरखि नव तरुन नारी।
सील की रासि जस-रासि आनँद-रासि,
नील नव जलद छबि बरन कारी।
दया की रासि, विद्या-रासि, बल-रासि,
निर्दयता-रासि, दनुज कुल प्रहारी।
चतुरई-रासि, छल-रासि, कल-रासि हरि भजै
जिहिं हेत तिहि देनहारी।
'सूर' प्रभु स्याम सुख-धाम पूरन-काम,
बसन कटि पीत मुख मुरलिधारी ॥२४२१॥

स्वभावतः उनमें अनेक भावों के आलंबन बनने की योग्यता है। जिस भाव से जो उन्हें भजता है, वे उसी भाव से उसे अपनाते हैं। जिसे उनकी भक्ति प्राप्त हो जाती है, उसका अज्ञान दूर हो जाता है। सूरदास ने इसी अज्ञान को अविद्या (माया) कहा है। जीव का नित्य संबंध केवल श्रीकृष्ण-ब्रह्म से है। यदि वह किसी अन्य के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो वह दुःख का भागी बनता है। श्रीकृष्ण के साथ ठीक

उसी प्रकार के सम्बन्ध जोड़े जा सकते हैं, जिस प्रकार के संबंध संसार में होते है। भागवत मे कहा गया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेवच।
नित्यं हरौ विदधतो, यान्ति तन्मयतां हि ते॥

'सूरसागर' मे इसी का भावानुवाद इस प्रकार दिया गया है—

... काम क्रोध भय नेह सुहृदता काहू बिधि करि कोइ।
धरै ध्यान हरि को जे दृढ़ करि सूर सो हरि सम होइ॥१६२६॥

भक्ति पक्ष के इन्हीं विविध संबंधो को चित्रित करने के लिए कृष्णावतार की कल्पना की गई है। कृष्णावतार पौराणिक परंपरा के अनुसार विष्णु का ही अवतार माना जाता है, किन्तु वह विष्णु का अंशावतार नहीं, पूर्णावतार है और अक्षर ब्रह्म के अंशावतार ब्रह्मा, विष्णु और महेश से परे है। ब्रज मे बजाई हुई मुरली की ध्वनि सुन कर वैकुंठवासी नारायण लक्ष्मी से कहते है—

... सुनौ प्रिया यह वानी अद्भुत बृन्दावन हरि देखौ।
धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि जीवन ब्रज कौ लेखौ।
रास बिलास करत नँदनंदन सो हमतैं अति दूरि।
धनि ब्रज-धाम धन्य ब्रज-धरनी उड़ि लागै जौ धूरि।
यह सुख तिहूँ भुवन मैं नाहीं जो हरि सँग पल एक।
'सूर' निरखि नारायन इक टक भूले नैन निमेष॥१६८२॥

कृष्ण का पूर्ण परमानंद रूप राधा-कृष्ण का युगल रूप है। जिस प्रकार ब्रह्म और जगत्, पुरुष और प्रकृति—निमित्त कारण और उपादान कारण में अभेद है, उसी प्रकार राधा और कृष्ण में अभेद है।

राधा प्रकृति हैं और कृष्ण पुरुष। प्रकृति को कृष्ण राधा रूपमें अपनी अहैतुकी आनंद-लीला प्रकट करने के लिए ही अवतरित करते हैं—

....प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ।
जल-थल जहाँ रहौं तुम बिनु नहिं बेद उपनिषद गायौ।
द्वै तनु, जीव एक हम तुम दोउ, सुख कारन उपजायौ।
ब्रह्म रूप द्वितिया नहिं कोऊ तब मन तिया जनायौ।
'सूर' स्याम मुख देखि अलप हँसि आनँद पुंज बढ़ायौ ।।२३०५।।

कृष्ण के अभिन्न होने के कारण राधा भी कृष्ण की ही भाँति रूप, सुख, शील और गुण की राशि हैं—

....रूप-रासि सुख-रासि राधिके सील महा गुन-रासी।
कृष्ण-चरन ते पावहिं स्यामा जे तुव चरन उपासी।
जगनायक जगदीस-पियारी जगत-जननि जगरानी।
नित बिहार गोपाल लाल सँग बृन्दावन रजधानी।
अगतिन की गति भक्तनि कीपति श्रीराधा पद मंगलदानी।
असरन-सरनी भव-भय हरनी वेद पुरान बखानी।
रसना एक नहीं सत कोटिक सोभा अमित अपार।
कृष्न भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहार ।।१६७३।।

राधा-कृष्ण का युगल रूप ही अद्वैत, पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म है—

....ब्रह्म पूरन द्वितिय नहिं कोऊ। राधिका सबै हरि सबै वोऊ।
दीप सौं दीप जैसें उजारी। तैसें ही ब्रह्म घर-घर बिहारी....।।३११३।।

राधा-माधव की भिन्नता केवल ब्रज की सुख-लीला के लिए थी। जब यह लीला पूर्ण हो गई; राधा और माधव दोनों एकाकार हो गए

और राधा की भिन्नता मिट गई—

> राधा-माधव भेंट भई ।
> राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई ।
> माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रँग रई ।
> माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई ।
> बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर, यह कहि कै उन ब्रज पठई ।
> 'सूरदास' प्रभु राधा माधव, ब्रज-बिहार नित नई-नई ।।४६१०।।

सूरदास ने पूर्ण ब्रह्म के कृष्ण रूप रसावतार के अतिरिक्त उनके मर्यादा रूप का भी वर्णन किया है । इस रूप में वे अनेक असुरों का संहार करते हैं । किंतु धर्म की मर्यादा स्थापित करने वाले तथा उसी हेतु दुष्टों का संहार करने वाले वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप चतुर्व्यूहात्मक अवतार में जिस शक्तिमत्ता और महान् चारित्रिक मर्यादा की आवश्यकता होती है, उसे चित्रित करने में सूर की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है । श्रीकृष्ण का यह रूप महाभारत और श्रीमद्भगवद्‌गीता में चित्रित किया गया है । हरिवंश तथा विष्णु आदि वैष्णव पुराणों में उनके ऐश्वर्य रूप का चित्रण है । किंतु परवर्ती पुराणों में उनके ऐश्वर्य रूप के साथ उनके चरित्र में ऐसे गुणों का विकास हो गया जो माधुर्य और लालित्य के व्यंजक हैं । यों तो वीर पुरुषों के पौरुष के साथ उनके रूप के सौंदर्य का चित्रण स्वाभाविक और परंपरानुमोदित है और वीरता और पराक्रम के साथ उनके विलास और क्रीड़ा-केलि का भी चित्रण होता आया है, किंतु कृष्ण के माधुर्य रूप की प्रकृति इस परम्परागत वर्णन से भिन्न है । पुराणों में

अवश्य, एक ओर कृष्ण के दैवत रूप का, दूसरी ओर उनके महान् पराक्रमी रूप का और तीसरी ओर उनकी घोर ऐन्द्रिय एवं उद्दाम विलास-क्रीड़ाओं का विशद चित्रण किया गया है, जिसे हम तत्कालीन प्रचलित तांत्रिक विश्वासों का प्रभाव मान सकते हैं। किंतु भक्ति के आलंबन श्रीकृष्ण का माधुर्य रूप उनके विलास-क्रीड़ामय ऐश्वर्य रूप से प्रकृत्या भिन्न है। पुराणों में वर्णित कृष्ण का विलास-वैभव उनके उस राजसी रूप पर आधारित है जिसका वर्णन महाभारत में है। वे द्वारकाधीश और रुक्मिणीरमण हैं तथा उनके अंतःपुर में सोलह सहस्र सुन्दरियाँ हैं। वे अपनी प्रिया सत्यभामा के लिए इंद्र के साथ युद्ध करके पारिजात ले आते हैं। किंतु हरिवंश तथा विष्णु आदि पुराणों में ही कृष्ण के गोपाल रूप का भी सूत्रपात हो गया था, जो भागवत में अधिक विकसित हुआ और भक्ति का आलंबन बना।

मधुर और ललित स्वभाव श्रीकृष्ण का गोपाल रूप पर्याप्त प्राचीन है। कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी से इसकी लोकप्रियता के प्रमाण मिलने लगते हैं। संभवतः यह इससे भी अधिक प्राचीन है और इस अनुमान का भी ऐतिहासिक आधार है। क्रीड़ा-प्रिय गोपाल कृष्ण की ललित और मधुर लीला संभवतः चिरकाल से लोक-कथाओं और लोक-गीतों का विषय थी। संभवतः वे किसी विशेष जाति—सात्त्वत या आभीर के कुलदेव थे। चंचलता और कौतुक-प्रियता में ही उनके चरित का सर्वाधिक आकर्षण था। ऐसा लगता है कि लोक-कथाओं और लोक-गीतों के इन गोपाल कृष्ण के चरित को पुराण-कार उत्तरोत्तर अधिकाधिक अपनाते गए। इसीलिए हम हरिवंश में

इस चरित का बहुत संक्षिप्त रूप पाते हैं। पुराणकार ने उस समय उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया। किन्तु भागवत तक आते-आते उसे महाभारत के ऐश्वर्यशाली कृष्ण की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व मिल गया और भक्ति के संप्रदायों ने उसी को अपना आराध्य बनाया। फलतः, गोपाल कृष्ण के चरित में भिन्न भाषाओं और भिन्न प्रदेशों के साहित्य में नाना प्रकार के आख्यान जुड़ते चले गए। इन आख्यानों का आधार लोक-मनोवृत्ति की कल्पनाशीलता ही है।

श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य और माधुर्य रूपों में जो मूल अन्तर है, उसी को ध्यान में रख कर वल्लभाचार्य ने कृष्ण के द्विविध अवतारों का उल्लेख किया है, एक मर्यादा रूप और दूसरा रसेश्वर रूप। कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदाय रसेश्वर रूप को ले कर ही विकसित हुए। कृष्ण-भक्ति संप्रदायों तथा भाषा कवियों द्वारा इसका इतना प्रचार हुआ कि कृष्ण का मर्यादा रूप एक प्रकार से विस्मृत-सा हो गया।

श्रीकृष्ण के माधुर्य और ऐश्वर्य रूपों में वास्तव में तात्त्विक अन्तर है। एक की दूसरे के साथ संगति मिलाना कठिन है। एक में ग्रामीण सरलता, अकृत्रिमता, स्नेहशीलता और सहज मानवीयता है, तो दूसरे में नागर महत्ता और गौरव, आडम्बरप्रियता, कठोरता और कृत्रिम शिष्टाचार है। एक में प्रेमानुगा ऐकांतिक भक्ति तथा वैयक्तिक स्वानुभूतिमूलक भाव-प्रधान गीतकाव्य का विषय बनने की स्वाभाविक योग्यता है, तो दूसरे में वस्तुप्रधान प्रबंधकाव्य का विषय बनने की। सूरदास की भक्ति-भावपूर्ण प्रवृत्ति पहले के ही अधिक अनुकूल है। इसीलिए सूरदास ने भागवत में वर्णित सम्पूर्ण कृष्ण-लीला गायन

करते हुए भी अधिक तन्मयता ब्रजवल्लभ, गोपीनाथ, गोपाल कृष्ण की लीला में ही दिखाई; द्वारकाधीश रुक्मिणीरमण कृष्ण के वैभव के प्रति उनके मन में सदैव विरक्ति-जैसा भाव रहा। नन्दनन्दन गोपालकृष्ण ही उनके भाव के आलंबन हैं। गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि इनके प्रति उन्होंने मुख्यतया तीन प्रधान भाव प्रकट किए हैं—वात्सल्य, सख्य और माधुर्य। भक्ति-भावना तथा काव्य-समीक्षा, दोनों दृष्टियों से हम इन्हें स्थायी भावों की संज्ञा देते हैं। शिशु और बाल कृष्ण, किशोर गोपाल कृष्ण, तथा किशोर गोपीवल्लभ राधा-कृष्ण क्रमशः इन स्थायी भावों के आलंबन हैं। तीनों भाव कृष्ण के ब्रजवास सम्बन्धी कथा-प्रसंगों के आश्रय से अनेक संचारी भावों से पुष्ट हो कर रस की निष्पत्ति करने में समर्थ हैं। किन्तु इन भावों की पृष्ठभूमि में श्रीकृष्ण के अलौकिक माहात्म्य का ज्ञान एक ओर दीनता और दूसरी ओर विस्मय की निरन्तर व्यंजना करता रहता है। इन भावों के भी मूल में अविद्याजन्य संसार के प्रति घोर अरुचि और वैराग्य की भावना निहित रहती है।

सूरदास ने 'विनय' के पदों में तो सांसारिक पदार्थों और विषयों की विगर्हणा की ही है, मनुष्य की अहंता और ममता से उत्पन्न हुए

सांसारिक संबंधों तथा संपत्तियों की निंदा करने में

शम उन्होंने अवसर मिलने पर कृष्ण-लीला गायन के

क्रम में भी कोई संकोच नहीं किया। संसार का कोई रूप चाहे वह कितना ही सुन्दर हो, यदि श्रीकृष्णमय नहीं है तो विष की भाँति त्याज्य है; संसार का कोई संबंधी चाहे वह कितना ही

आत्मीय क्यों न समझा जाता हो, यदि श्रीकृष्ण की शरण में नहीं गया है तो वैरी के समान है तथा संसार की कोई सम्पत्ति जो कृष्णार्पित नहीं है, धूल के समान है । भक्त इन सबसे दूर रहना चाहता है। किन्तु शम का यह भाव निषेधात्मक है। वस्तुतः भावशून्यता की स्थिति में इसकी चरम परिणति अपेक्षित होती है। सूरदास के भावाकुल हृदय को प्रकृत्या इस स्थिति से संतोष नहीं मिल सकता था। उनके स्वभाव की प्रकृतिजन्य सौंदर्यप्रियता तथा हृदय की असाधारण संवेदनशीलता को किसी ऐसे आलम्बन की आवश्यकता थी जिसके सहारे वे अपने हृदय के भार को हलका कर सकते । श्रीकृष्ण के रूप में उन्हें यह आलंबन मिल गया। अतः शम भाव सूरदास ने बहुत कम व्यक्त किया। 'विनय' के पदों में ही उसके सबसे अधिक उदाहरण मिल सकते हैं। निम्न पद में संसार के प्रति घृणा का भाव कैसी तार्किकता के साथ पुष्ट किया गया है—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।

ता दिन तेरे तन तरुवर के, सबै पात झरि जैहैं ॥
या देही कौ गरब न करियै, स्यार काग गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि कै बिष्टा कै ह्वै खाक उड़ैहैं ॥
कहँ वह नीर कहा वह सोभा कहँ रँग रूप दिखैहैं ।
जिन लोगनि सों नेह करत है तेई देखि घिनैहैं।
घर के कहत सबारे काढ़ौ भूत होइ धरि खैहैं।
जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपाल्यौ देवी-देव मनैहैं।
तेई लै खोपरी बाँस दै सीस फोरि बिखरैहैं ।

अजहूँ मूढ़ करौ सत संगति, संतन में कछु पैहै।
नर बपु धारि नाहि जन हरि कौं जम की मार सो खैहै।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु बृथा सु जनम गँवैहैं ।।८६।।

किन्तु सौभाग्य से सूर को करुणामय हरि की कृपा प्राप्त हो गई और उनकी भक्ति में सम्मिलित हो कर उन्हें अपने नर-वपु को सार्थक करने का अवसर मिल गया। इसलिए उन्हें जड़ता की निंदा करने की आवश्यकता नहीं रही। फिर भी, संसार के त्याग का भाव उनकी भक्ति-भावना का मूलाधार है। अतः सूर के काव्य में निरन्तर शांत रस अंतर्निहित है।

भगवान् के माहात्म्य तथा अपनी लघुता की अनुभूति के साथ भगवान् के प्रति जो प्रेम किया जाता है उसे 'प्रीति रति' की संज्ञा दी गई है। सूरदास ने अपने 'विनय' के पदों में भगवान् का माहात्म्य केवल उनकी दयालुता, पतित-पावनता, सर्व-समर्थता और भक्त-वत्सलता के रूप में चित्रित किया है तथा भक्त की लघुता उसकी

प्रीति और दैन्य

अवलंबहीनता, पतितावस्था, असमर्थता और दीनता-हीनता के रूप में उपस्थित की है। इस प्रकार के पद विनय के पदों में भरे पड़े हैं, जिनमें भक्त ने अपनी लघुता की अतिरंजना करके करुणानिधि भगवान् की कृपा की याचना की है। इस संबंध में भक्त भगवान् के चरणों के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का प्रयत्न करता है और उनसे अपनी शरण में ले कर दास की भाँति रक्षा करने की प्रार्थना करता है; यथा—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे ।

तुम्हैं हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुन प्रभु मेरे ।

सब तजि तुम सरनागत आयौ दृढ़ करि चरन गहे रे ।

तुम प्रताप बल बदत न काहूँ निडर भए घर-चेरे ।

और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे ।

'सूरदास' प्रभु तुम्हरी कृपा तें पाए सुख जु घनेरे ॥१७०॥

भक्त का अनन्य भाव उसकी प्रीति की तीव्रता और अनुराग की तन्मयता प्रकट करता है। अपने भगवान् के आगे वह किसी को कुछ नहीं समझता। उनसे सुरक्षा पा कर वह निर्भय हो गया है। अन्य देवी-देवता उसके सामने 'रंक-भिखारी' हैं। श्याम का गुलाम कहलाने में उसे अत्यन्त गौरव का अनुभव होता है और उसे क्रीत-दास बन कर अपने स्वामी की जूठन खाने में अत्यन्त सुख मिलता है—

हमैं नँद-नंदन मोल लिये ।

जम के फंद काटि मुकराए, अभय अजाद किये ।

भाल तिलक स्रवननि तुलसीदल मेटे अंक बिये ।

मूंड़्यौ मूंड़, कंठ बनमाला मुद्रा चक्र दिये ।

सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिये ।

'सूरदास' कौं और बड़ौ सुख, जूठनि खाइ जिये ॥१७१॥

इस भाव से अभिभूत हो कर भक्त भगवान् की दयालुता की प्रशंसा करते नहीं थकता। हरि केवल शरणागत की रक्षा ही नहीं करते, वरन् अपने सेवक की इस प्रकार तत्परता से रक्षा करते हैं जिस प्रकार गऊ अपने बछड़े के पीछे-पीछे उसकी चिंता में फिरती रहती है। उनके

जैसा स्वामी और कहाँ मिलेगा—

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं ।
जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै, तिहिं बिधि राखत मन कौं ।
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय पट तन कौं ।
लग्यौ फिरति सुरभी ज्यौं सुत सँग, औचट गुनि गृह बन कौं ।
परम उदार चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर निधन कौं ।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन कौं ।
संकट परैं तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं ।
कोटिक करै एक नहिं मानै, 'सूर' महा कृतघन कौं ॥६॥

भक्तवत्सल हरि की असीम कृपा के अगणित उदाहरण हैं । वे भक्त की योग्यता नहीं देखते । भक्त की सबसे बड़ी योग्यता उसकी सबसे अधिक अयोग्यता ही है । उन्हें जाति, कुजाति, कुल, मान, मर्यादा किसी का विचार नहीं होता । वे केवल प्रीति का आदर करते हैं । जो जिस भाव से सेवा करता है, वे अन्तर्यामी उसे जान लेते हैं और भक्त के संकट में उसकी रक्षा करते हैं, वे दुखी और आर्त के सहज साथी हैं—

स्याम गरीबन हूँ के गाहक ।
दीनानाथ हमारे ठाकुर सांचे प्रीति-निबाहक ।
कहा बिदुर की जाति-पाँति कुल, प्रेम-प्रीत के लाहक।
कह पाँडव कैं घर ठकुराई अरजुन के रथ-वाहक ।
कहा सुदामा कैं धन हो तौ सत्य-प्रीति के चाहक ।
'सूरदास' सठ तातैं हरि भजि आरत के दुख-दाहक ॥१६॥

किन्तु सूरदास ने भगवान् के ऐश्वर्य का ऐसा वर्णन नहीं किया जैसा तुलसीदास ने किया है। तुलसीदास ने राम के राजसी वैभव के वर्णन में मध्ययुगीन सम्राटों के दरबारों का चित्र खींचा है और उनके निकट पहुँचने में उसी प्रकार के लम्बे शिष्टाचारों का वर्णन किया है जिस प्रकार के शिष्टाचार सम्राटों के यहाँ बरते जाते थे। किन्तु सूरदास की सरल, ग्रामीण प्रकृति इन आडम्बरों से बहुत दूर थी। उन्हें राजसी वैभव से स्वाभाविक अरुचि थी। रामावतार सम्बन्धी पदों में भी उन्होंने राम के वैभव का गौरवपूर्ण चित्र नहीं खींचा; वहाँ भी वे राम के हृदय की करुणा और कोमलता ही टटोलते रहे। किन्तु राम के मर्यादावादी महामहिम व्यक्तितत्व के साथ वे आत्मीयता का अनुभव नहीं कर सके। इसीलिए उन्होंने रामचरित गाने के बाद कहा—

बिनती किहिं बिधि प्रभुहिं सुनाऊँ ?
महाराज रघुबीर धीर कौं, समय न कबहूँ न पाऊँ।
जाम रहत जामिनि के बीतैं, तिहिं औसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद मैं, कैसैं प्रभुहिं जगाऊँ॥
दिनकर किरनि उदित ब्रह्मादिक-रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर मुनिगन की तिहिं तैं ठौर न पाऊँ॥
उठत सभा दिन मधि सैनापति-भीर देखि फिरि आऊँ।
न्हात खात सुख करत साहिबी, कैसैं करि अनखाऊँ।
रजनी-मुख आवत गुन गावत, नारद तुंबुर नाऊँ।
तुमहीं कहौ कृपा निधि रघुपति, किहिं गिनती मैं आऊँ।

एक उपाउ करौ कमलापति, कहौ तौ कहि समुझाऊँ।

पतित उधारन नाम 'सूर' प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ ॥६१६॥

सूरदास अपने हरि के अधिक से अधिक समीप पहुँच कर आत्म-निवेदन करना चाहते हैं। शिष्टाचार के आडम्बर उन्हें नहीं भाते। दीनतापूर्ण निवेदन में भी वे इसी कारण स्वामी के मुँहलगे सेवक की भाँति कभी-कभी ढिठाई दिखा कर आत्मीयता प्रकट करने लगते हैं—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।

कै तुम हीं कै हम हीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं ॥

हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।

अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुमहिं बिरद बिन करिहौं ॥

कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।

'सूर' पतित तब हीं उठिहै प्रभु, जब हँसि दैहौ बीरा ॥१३४॥

इसी मनोदशा में भक्त अपनी अधमता की अतिरंजना करके भगवान् को चुनौती देता है कि यदि तुम मेरा उद्धार करो तो जानें। अब तक जितने पतितों का उद्धार किया है, वे पाप करने में मेरे पासँग के बराबर भी नहीं थे। छोटे-छोटे पतितों को तार कर गौरव का अनुभव उचित नहीं है। मेरे लिए तुम्हारे यहाँ ठौर नहीं मिल सकता और फिर तुम्हारा पतितपावन नाम भी नहीं रह सकता। वस्तुतः यह निरादर के व्याज से भगवान् की पतितपावनता की प्रशंसा है, किन्तु इसकी शैली में सेवक की धृष्टता स्पष्ट है, जो उसकी आत्मीयता की सूचक है। सूरदास अपने हरि के साथ इससे भी अधिक आत्मीयता के इच्छुक हैं। और यह आत्मीयता उन्हें कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द, गोपी आदि

व्रजवासियो के भावों में ही मिल सकती है। अतः सेवक-सेव्य भाव की प्रीति रति की अपेक्षा जैसा कि गत अध्याय में देख चुके हैं, सूरदास के मानस मे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु दैन्य भाव, जो सेवक-सेव्य के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्टता और आग्रह के साथ प्रकट हुआ है, सूर के भाव-जगत् का गौण भाव नहीं है। सच तो यह है कि दैन्य भाव के बिना भक्ति-भाव संभव ही नहीं है। भाव-मात्र की भक्ति किसी न किसी प्रकार दैन्यसमन्वित होती ही है। सूरदास ने अनेक प्रसंगो में बडी मार्मिक व्यथा के साथ हृदय की दीनता प्रकट की है। जिस प्रकार वे अपने कृपा-निधान भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

अब कै राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठौ द्रुम डरिया, पारधि साधे बान॥
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान....॥९७॥

उसी प्रकार वे सीता के मुख से अनन्य भाव की दारुण दीनता प्रकट करवाते हैं—

यह गति देखे जात सँदेसौ कैसैं कैं जु कहौं?
सुनु कपि, अपने प्रान कौ पहरौ कब लगि देति रहौं?....५३६॥
कहियौ कपि, रघुनाथराज सौं सादर यह इक बिनती मेरी।
नाहीं सही परति मोपै अब, दारुन त्रास निसाचर केरी।
यह तौ अंध बीसहूँ लोचन, छल बल करत आनि मुख हेरी।
आइ सृगाल सिंह बलि चाहत, यह मरजाद जाति प्रभु तेरी।

जिहिं भुज परसुराम बल करष्यौ, ते भुज क्यों न सँभारत फेरी।
'सूर' सनेह जानि करुनामय, लेहु छुड़ाइ जानकी चेरी ॥५३७॥
मैं परदेसिनि नारि अकेली ।
बिनु रघुनाथ और नहिं कोऊ, मात पिता न सहेली ।
बिरह ताप तन अधिक जरावत, जैसें दव द्रुम बेली ।
'सूरदास' प्रभु बेगि मिलावौ, प्रान जात हैं खेली ॥५३८॥

सूरदास का हृदय इतना कोमल और द्रवणशील है कि तनिक से वियोग में वह कातर हो जाता है; यही नहीं, वियोग की आशंका ही उसे दयनीय बना देती है। चाहे यशोदा हो या

वात्सल्य में दैन्य

नन्द, गोप-सखा हों या साधारण ब्रजवासी तथा वल्लभी गोपियाँ हों या राधा—सभी के हृदय में एक ही करुणा-धारा प्रवाहित होने लगती है। इस करुणा-मन्दाकिनी में कितने विभिन्न भावों की धाराएँ एकाकार हो जाती हैं! यशोदा कृष्ण को पुत्र के रूप में पा कर जितनी उत्फुल्ल हैं, घोर आशंकाएँ प्रायः उन्हें उतना ही दीन बना देती हैं। किंतु उनकी दीनता उस समय हृदय-विदारक हो जाती है जब वे देखती हैं कि उनके गोपाल अक्रूर के साथ मथुरा जाने के लिए उद्यत हो गए हैं और उन्होंने ऐसा मोह तोड़ दिया है, मानो ब्रजवासियों से उनकी पहचान ही न हो। अत्यन्त दीन हो कर वे कहती हैं—

मोहन नैंकु बदन तन हेरौ ।
राखौ मोहि नात जननी कौ, मदन गुपाल लाल मुख फेरौ ।

पाछैं चढ़ौ बिमान मनोहर, बहुरौ ब्रज में होत अँधेरौ।
बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखौ घोष जनम कौ खेरौ।
समदौ सखा स्याम यह कहि कहि, अपने गाइ ग्वाल सब घेरौ।
गए न प्रान सूर ता अवसर, नंद जतन करि रहे घनेरौ ॥३६०८॥

और, जब कृष्ण मथुरा से नन्द को अकेले ब्रज लौटने के लिए कहते हैं तब तो नन्द की दशा और अधिक दारुण हो जाती है। सच-मुच उनका हृदय फटने लगता है। उन्हें लगता है कि यहाँ मथुरा में आ कर कृष्ण ने असुरों को मारा है, इसी से इनका हृदय इतना कठोर हो गया है। वे अकेले कैसे लौट जाएँ? यशोदा दौड़ कर आगे आएगी और पूछेगी तो वे क्या उत्तर देंगे? उसने कृष्ण के लिए मक्खन मथ कर रखा होगा। किन्तु कृष्ण अपने निश्चय पर दृढ़ हैं। नन्द को आश्चर्य है कि इन्हें हो क्या गया है! क्या ये वही कृष्ण हैं या कोई दूसरे? उन्हें लगता है कि ये निश्चय ही बदल गए हैं। वे मथुरा का राजसी वैभव देखते हैं, कृष्ण का परिवर्तित भाव देखते हैं और यह स्मरण करते हैं कि ये ही कृष्ण ब्रज के ग्रामीण वातावरण में नन्द के यहाँ किस प्रकार रहते थे, तो उन्हें अपनी हीनता और कृष्ण की प्रभुता में स्पष्ट अंतर दिखाई देने लगता है। उनका हृदय ग्लानि से भर आता है और वे करुण स्वर में पिता होते हुए भी पुत्र से कहने लगते हैं—

तुम मेरी प्रभुता बहुत करी।
परम गँवार ग्वाल पसु-पालक, नीच दसा लै उच्च धरी....॥३७४१॥

और, जब माधव फिर भी नागर शिष्टाचार के साथ—

जिते मान सेवा तुम कीन्हीं, बदलौ दियौ न जात ।
पुत्र हेत प्रतिपाल कियौ तुम, जैसें जननी तात ।
गोकुलबसत हँसत, खेलत मोहिं द्यौस न जान्यौ जात।
होहु बिदा घर जाहु गुसाईं, माने रहियौ नात ।

कह कर उठते हैं और उदासीनतपूर्वक चल देते हैं, तब नन्द का क्षीण शरीर पत्ते की भाँति हिलने लगता है और हृदय धक-धक करने लगता है—

भए बलहीन खीन तन कंपित, ज्यौं बयारि बस पात ।
धकधकात हिय बहुत सूर उठि, चले नंद पछितात ।।३७४२।।

और, नन्द जब लौट कर ब्रज पहुँचते हैं तब यशोदा ऊपर से उन्हें ही लांछन देती हैं । वे पूछती हैं कि तुम अकेले लौटे ही क्यों कर ? तुम्हारी वज्र की छाती वहीं क्यों न फट गई ? वहीं तुमने दशरथ की भाँति प्राण क्यों नहीं गँवा दिए ? तुम मोहन को छोड़ कर यहाँ दूध-दही चखने आए हो ? यशोदा और नन्द की दारुण दीनता इन प्रश्नों से व्यंजित होती है । कृष्ण को गँवा कर मानो उनका जीवन एक भीषण भार हो गया है । अब उन्हें प्रायः यह सोच कर पश्चात्ताप होता है कि हमने हरि की सेवा नहीं कर पाई ! हमने उनसे गऊएँ चरवाईं और इसका ध्यान न रखा कि उनके चरण कितने कोमल तथा वन-पथ कितना कठोर और कंटकाकीर्ण है । हमने उन्हें थोड़े से दही के लिए ऊखल में बाँधा । हमने उन्हें अपने तन-धन के लोभ के कारण कंस जैसे दुष्ट के यहाँ भेज दिया और यह हमारी कैसी निठुराई है कि हम इतने निकट रहते हुए भी उनसे कभी मिलने तक न गए । वे निश्चय ही हमारे साथ सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु वास्तव में

बात यह है कि अब स्नेह का वह पुराना सम्बन्ध हर्ष और सुख के स्थान पर करुणा और दुःख में बदल गया है। मथुरा में जा कर यशोदा और नन्द को उस वात्सल्य के प्रकाशन का अवसर नहीं मिल सकता जिस पर गोकुल में उनका एकाधिकार था। इसीलिए यशोदा कहती हैं—

लै आवहु गोकुल गोपालहिं।
पाँइनि परि क्यों हूँ बिनती करि छल बल बाहु बिसालहिं....॥३७८२॥

कभी-कभी वे मथुरा जाने को उद्यत हो जाती हैं, भले ही वहाँ उन्हें वसुदेव की दासी ही क्यों न बनना पड़े, भले ही इस पर सब लोग हँसें, स्वयं कृष्ण ही क्यों न हँसें—

हौं तौ माई मथुरा ही पै जैहौं॥
दासी ह्वै बसुदेव राइ की दरसन देखत रैहौं।
राखि राखि एते दिवसनि मोहिं, कहा कियौ तुम नोकौ।
सोऊ तौ अक्रूर गए लै, तनक खिलौना जी कौ॥
मोहिं देखिकै लोग हंसैंगे अरु किन कान्ह हंसै।
'सूर' असीस जाइ देहौं जनि न्हातहु बार खसैं॥३७८८॥

किसी भी माता के लिए दूर से ही पुत्र के दर्शन कर लेने और आशीर्वाद दे लेने की आकांक्षा करना अत्यन्त स्वाभाविक है। किंतु इस भावना में स्वाभाविकता-मात्र का सौंदर्य नहीं है। इतनी भावाकुलता साधारण पुत्र के लिए सामान्यतः नहीं हो पाती। कृष्ण में जो एक साधारण आकर्षण है तथा उनके प्रेम में जो चिरंतन आध्यात्मिक रस है, उसी की व्यंजना कवि को अभीष्ट है। नंद-यशोदा की

दयनीयता में वह रस अत्यन्त स्वाभाविकता से ध्वनित हुआ है। यशोदा पथिक से कहती हैं कि जा कर मेरे कुँवर से कहना कि तुम्हारे बिना ब्रज में बड़े उत्पात हो रहे हैं। पूतना, अघासुर, दावानल आदि जितने उत्पाती उन्होंने दूर किए थे, वे अब सब फिर आ उपस्थित हुए हैं। उनके प्यारे ब्रजवासी—विशेष रूप से गोपियाँ और गौएँ—पीली और दुबली हो गई हैं। यशोदा को आशा होती है कि संभव है कृष्ण अपने कर्त्तव्य का ध्यान करके अथवा अपने पुराने संबंधियों की रक्षा के विचार से ही लौट आएँ। यह माता की स्वाभाविक आकांक्षा और सामान्य तर्क है, किंतु साथ ही—

....सत्वर सूर सहाइ करौ अब, समुझि पुरातन हेत ॥३७८९॥

में सूरदास के कातर भक्त-हृदय की दीन विनय है, जो प्रकृति में उसकी प्रारम्भिक विनय से भिन्न नहीं है। यशोदा का हृदय यह सोच कर बार-बार आत्म-ग्लानि से भर जाता है कि वे प्रायः उन्हें माखन देने में देर कर देती थीं। अपनी छोटी-छोटी चूकों के लिए वे अत्यन्त खिन्न होती हैं और पथिक से कहती हैं कि वे इन बातों का बुरा न मानें। इसके बदले में मुझे रोग और बलाएँ लगें, पर वे एक बार आ कर मुँह तो दिखा दें। वे पथिक के पैर पकड़ कर विनती करने लगती हैं। मोहन के बिना अब मक्खन का क्या होगा? उसकी ओर देखा भी नहीं जाता, हृदय में गहरी वेदना होती है। कृष्ण के बिना सब निरर्थक है। किन्तु इन वचनों में जो आध्यात्मिक व्यंजना है, वह इतनी सूक्ष्म है कि उसका विचार भी उसकी सरसता में व्याघात डाल सकता है, वह तो केवल अनुभव करने की वस्तु है, कहने की नहीं।

यद्यपि यशोदा इतनी कातर हो जाती हैं कि उनका आत्मविश्वास भंग होने लगता है, फिर भी वे जानती हैं कि—

....खान-पान परिधान राज-सुख जो कोउ कोटि लड़ावै ।

तदपि सूर मेरौ बाल कन्हैया, माखन ही सचु पावै ।।३७६७।।

अर्थात्, उन्हें यह विश्वास अब भी है कि कृष्ण प्रेम के ही भूखे हैं, धन-वैभव के नहीं। उनका यह विश्वास भक्त के इस विश्वास से भिन्न नही है कि उसके भगवान् को भक्त ही सर्वाधिक प्रिय होता है। कृष्ण के बिना संसार सूना हो गया, संसार के प्रति आकर्षण तो कृष्ण के ही नाते था। जब घर और घर की समस्त वस्तुओ, अर्थात् संसार और उसके पदार्थों से कृष्ण का नाता नहीं रहा, तब उन आँखों को वह घर कैसे आकर्षित कर सकता है, जो सब जगह कृष्ण ही कृष्ण देखना चाहती हैं। यशोदा के इस कथन मे कि—

मेरे कुँवर कान्ह बिन सब कछु वसेहि धर्‌यौ रहै ।

भक्त-हृदय के लिए एक अनूठी व्यंजना है और कवि को वही अभीष्ट भी है—

जो ब्रज मैं आनन्द हुतौ, मुनि मनसा हू न गहै ।

'सूरदास' स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै ।।३७६८।।

भक्त को जगत् क्यों आनन्द और उत्सव का स्थान हो जाता है, इसे तत्त्वचिंतक ज्ञानी जन क्या समझें ! इसे तो सहृदय ही जान सकते हैं। किन्तु अब यशोदा और उनके साथ सूरदास को यह सोच कर एक प्रकार का संतोष-सा है कि अब ब्रज कौडो का भी नहीं रहा।

उद्धव से भी यशोदा इसी प्रकार अपनी दीनता प्रकट करती हैं।

कृष्ण के ब्रज में रहते उन्होंने कभी न सोचा था कि उनकी गोद में कोई अवतारी पुरुष खेलता है। वे तो कृष्ण को अपना अबोध बालक ही जानती और मानती थीं। किन्तु अब उन्हें कुछ और ही मानना पड़ रहा है। फिर भी उनका वात्सल्य अटल है, क्योंकि उसी में तो उनका सम्पूर्ण अस्तित्व निहित है ! वे कहती हैं—

ऊधौ हम ऐसी नहिं जानी।
सुत के हेत मरम नहिं पायौ प्रगटे सारँगपानी।
निसि बासर छतियाँ सौं लाई, बालक लीला गाऊँ।
ऐसे कबहूँ भाग होंहिंगे, बहुरौ गोद खिलाऊँ।
....
बिदरति नाहिं बज्र की छाती, हरि वियोग क्यों सहियै।
'सूरदास' अब नँदनन्दन बिनु, कहौ कौन बिधि रहियै ॥४७०३॥

और, जब उद्धव ब्रज से जाने लगते हैं, तब तो यशोदा की दयनीय दशा देखी भी नहीं जाती—

भूलि न उठत जसोदा जननी, मनौ भुवंगम डासी।
छूटत नहीं प्रान क्यों अटके, कठिन प्रेम की फाँसी ॥४७०६॥

वात्सल्य का यह दैन्य ही उसे सामान्य धरातल की सचाई के साथ ऊपर उठा कर अलौकिक बना देता है। इसी से उद्धव कहते हैं—

धन्य नंद, धनि जसुमति रानी।
धन्य ग्वाल-गोपी जु खिलाए गोदहि सारँगपानी।
धनि ब्रज भूमि धन्य बृंदावन जहँ अविनासी आए।
धनि धनि सूर आज हमहूँ जो तुम सब देखे पाए ॥४७१०॥

गोप-सखाओं का उत्फुल्ल प्रेम भी वियोग दशा में अत्यन्त करुण

हो जाता है और वे ही सखा जो कृष्ण के साथ निःसंकोच धृष्टता का व्यवहार करते थे, अत्यन्त दीन बन जाते हैं। कृष्ण के वियोग की तनिक सी आशंका भी उन्हें कातर बना देती है। जब कृष्ण के दैवी रूप के संकेत उन्हें भावी वियोग का आभास देने लगते हैं, तब वे सखा-भाव भूल कर प्रार्थना करने लगते हैं—

ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु।
जहाँ जहाँ तुम देह धरत हौ, तहाँ तहाँ जनि चरन छुड़ावहु॥१०६८॥

किन्तु, वियोग दशा में सखाओं की दीनता ब्रज के सामान्य नर-नारी की दीनता में अंतर्निहित है, जिसके अनेक चित्र सूरदास ने दिए हैं। विशेष रूप से तो उन्हें यशोदा, राधा और गोपियों की करुण दशा ने ही आकर्षित किया है। वस्तुतः उन्हीं में उनके हार्दिक दैन्य की प्रतिच्छाया सबसे अधिक गहरी और स्पष्ट थी। विरह की तो बात ही दूसरी है, विरह की आशंका अथवा उपेक्षाव्यंजक तनिक-सी भ्रू-भंगिमा गोपियों को दीन बना देती है। रासक्रीड़ा के पहले कृष्ण के वेणु-वादन से आकृष्ट हो कर आई हुई गोपियों को जब कृष्ण 'युवतियों के धर्म' की शास्त्रीय शिक्षा देने लगते हैं, तब गोपियाँ व्यथित हो कर कहती हैं—

माधुर्य में दैन्य

निठुर बचन जनि बोलहु स्याम।
आस निरास करौ जनि हमरी ब्याकुल बचन कहति हैं बाम।
अन्तर कपट दूरि करि डारौ हम तन कृपा निहारौ।
कृपासिंधु तुमकौं सब गावत अपनौ नाम सम्हारौ।

हमकौ सरन और नहिं सूझै कापै अब हम जाहिं ।

'सूरदास' प्रभु निज दासिनि की चूक कहा पछिताहिं ॥१६३८॥

गोपियों की इस प्रार्थना और दीन भक्त की कृपा-याचना में कोई अंतर नहीं है। गोपियों की भावना मूलतः भक्ति की भावना ही है, जिसमें तनिक-सा अहंकार भक्त के आत्म-समर्पण को खंडित कर देता है। इसीलिए रासक्रीड़ा के अंतर्गत जब कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं, तब गोपियाँ कहती हैं—

कृपा सिन्धु हरि कृपा करौ हो ।

अनजाने मन गर्व बढ़ायौ सो अपने जनि हृदय धरौ हो ।

सोरह सहस पीर तन एकै राधा जिव सब देह ।

ऐसी दसा देखि करुनामै प्रगट्यौ हृदय सनेह ॥१७४१॥

इसी प्रकार, एक बार 'मान' करके राधा स्वयं पछताती और हा-हा खाती हैं तथा अपने गर्व के लिए क्षमा-याचना करती हैं—

चूक परी मोतैं मैं जानी, मिलैं स्याम बकसाऊँ री ।

हा हा करि दसननि तृन धरि धरि लोचन नीर बहाऊँ री ।

चरन कमल गाढ़ैं गहि कर सौं पुनि पुनि सीस छुवाऊँ री ।

'सूर' स्याम अपराध छमहु अब, यह कहि कहि जु सुनाऊँ री ॥२७२१॥

किन्तु अक्रूर के साथ कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की करुण दशा के चित्रण में कवि ने भक्त-हृदय का दैन्य सबसे अधिक मार्मिकता के साथ प्रदर्शित किया है। गोपियों के देखते-देखते श्याम रथ पर चढ़ कर चले गए, वे जहाँ की तहाँ, जड़वत् खड़ी देखती रह गईं। बाद में उन्हें पश्चात्ताप होता है कि हमने चलते हुए मोहन को

फेंट पकड़ कर रोका क्यों नहीं ? तथा—

हरि बिछुरत फाट्यौ न हियौ ।

भयौ कठोर बज्र तैं भारी, रहि कै पापी कहा कियौ ।

घोरि हलाहल सुनि री सजनी, तिहिं अवसर काहैं न पियौ ॥३६२३॥

कृष्ण के बिना जीवन धारण करना व्यर्थ है । गोपियाँ अनाथ हो गईं, किंतु उन्हें आशा है कि संभव है श्याम उनकी विनती सुन लें । उनकी प्रार्थना में कातर हृदय की गंभीर करुणा है—

नाथ अनाथनि की सुधि लीजै ।

गोपी, ग्वाल, गाइ, गो-सुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै ।

चरन कमल दरसन नव नवका, करुना सिन्धु जगत जस लीजै ।

'सूरदास' प्रभु आस मिलन की, एक बार आवन ब्रज कीजै ॥३८०८॥

गोपियों के समस्त सुख श्रीकृष्ण के साथ चले गए । अब उनके हाथ केवल पश्चात्ताप रह गया है । वे संपूर्ण ब्रज की ओर से विनीत निवेदन करती हैं—

करिहौ मोहन कहूँ सँभारि, गोकुल-जन-सुख हारे ।

खग, मृग, तृन, बेली, बृन्दावन, गैया, ग्वाल बिसारे ।

नंद जसोदा मारग जोवैं, निसि दिन दीन दुखारे ।

छिन छिन सुरति करत चरनन की, बाल विनोद तुम्हारे ।

दीन दुखी ब्रज रह्यौ न परिहै, सुन्दर स्याम लला रे ।

दीनानाथ कृपा के सागर, 'सूरदास' प्रभु प्यारे ॥४०२७॥

गोपियों के हृदय का विषाद अधिकतर उद्धव के साथ परिहासपूर्ण व्यंग्यों में ध्वनित हुआ है । अतः उनके वचनों में वह दैन्य नहीं सुनाई

देता, जो हम यशोदा की वाणी में सुन चुके हैं। वस्तुतः दैन्य के साथ सूरदास के स्वभाव का एक महत्त्वपूर्ण अंग व्यंग्य-विनोद भी है, जिसे उन्होंने अपने प्रारम्भिक दैन्य के प्रकाशन में भी व्यक्त किया है। गोपियों की करुणा के प्रकाशन में उनकी विनोदी प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रकट हुई है। किंतु गोपियों के परिहास के बीच-बीच उनके हृदय का दैन्य कभी-कभी बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त हो जाता है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि 'मदन गुपाल' के बिना ब्रज में फिर से तृनावर्त, बकी, बक, अघासुर, धेनुक, व्योम, कंस आदि के उत्पात होने लगे। इन्द्र भी अब अपना बदला चुकाने का विचार कर रहा है। इनके फलस्वरूप—

गोपी, गाइ, गोप, गोकुल सब थर थर काँपत गात।
अंचल फारति जननि जसोदा पाग लिए कर तात।
लागौ बेगि गुहारि सूर प्रभु गोकुल बैरिनि घात ॥४६८७॥

और, गोपियों की दीन गुहार कितनी करुण है! वे अपनी दयनीय दशा क्या सुनाएँ! गायों की दशा से ही उसका अनुमान किया जा सकता है—

ऊधौ, इतनी कहियो जाइ।
अति कृसगात भई ये तुम बिन परम दुखारी गाइ।
जल समूह बरसति दोउ अँखियाँ हूँकति लीन्हें नाउँ।
जहाँ जहाँ गो-दोहन कीन्हौं, सूँघति सोई ठाउँ।
परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य तैं मीन ॥४६८८॥

गोपियों में सबसे अधिक करुण दशा निःसंदेह राधा की है, परन्तु वह इतनी करुण है कि उनका स्वर भी हमें नहीं सुनाई देता, केवल कभी-कभी उनका मलिन, दीन वेश दिखाई दे जाता है। उसका एक चित्र है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी ।

हरि स्रम-जल भींज्यौ उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी ।

अधमुख रहति अनत नहि चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुवारी ।

छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी ।

हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी ।

'सूरदास' कैसैं करि जीवैं, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी ॥४६६१॥

उद्धव राधा की करुण मूर्ति देख कर अत्यन्त प्रभावित होते हैं। मथुरा लौट कर वे कृष्ण से कहते हैं कि तुम्हारे विरह में राधा अत्यन्त क्षीण हो गई है। उसने तेल, तमोल, भूषण आदि सब छोड़ दिए हैं, उसके शरीर के वस्त्र अत्यन्त मैले हैं। जब वह अपना संदेश देने मेरे पास आने लगी, तो उसकी क्षुद्रावलि छुट गई, उसके पैर उलझ गए और वह बेचारी दुर्बल स्त्री वहीं गिर गई। और—

कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन ।

नैन जल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन ।

उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं, परम साहस कीन ।

'सूर' हरि के दरस कारन रही आसालीन ॥४७२५॥

हरि से वियोग का दारुण व्यथापूर्ण जीवन केवल एक आशा के सहारे ढोया जा सकता है, नहीं तो न जाने कब का वह समाप्त हो

गया होता। राधा की दशा अकथनीय है, अन्य गोपियाँ भी अत्यन्त दीन-मलीन हैं। उनके होठ सूख गए हैं, मुँह से बात नहीं निकलती, उलटी साँसें चलती हैं, चेहरे मुरझा गए हैं—

परम वियोगिनी सब ठाढ़ी।
ज्यौं जलहीन दीन कुमुदिनि बन रबि-प्रकास की डाढ़ी।
जिहिं बिधि मीन सलिल तैं बिछुरै, तिहिं अति गति अकुलानी।
सूखे अधर न कहि आवै कछु, बचन रहित मुख बानी।
उन्नत स्वास बिरह बिरहातुर, कमल बदन कुम्हिलानी....॥४७५५॥

गोपियों को जब यह मालूम होता है कि श्रीकृष्ण मथुरा से द्वारका चले गए तब वे और भी दुखी हो जाती हैं। अब तक तो मिलने की आशा भी थी, अब वह भी संभव नहीं है। यह तो मरे को भी मारने के समान हुआ—

नैना भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल उहाँ तैं सजनी सुनियत दूरि सिधारे।
वै समुद्र हम मीन बापुरी, कैसैं जीवैं प्यारे।
हम चातक वै जलद स्याम-घन, पियति सुधा रस प्यारे।
मथुरा बसत आस दरसन की, जोइ नैन मग हारे।
'सूरदास' हमकौ उलटी बिधि मृतकहुँ तैं पुनि मारे॥४८७०॥

गोपियों की करुण दशा के वर्णन में कवि को उसी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति मिलती है जो विनय के पदों में उसने करुणामय हरि की कृपा-याचना करते हुए प्रकट की थी। अंतर केवल इतना है कि उस समय कवि को पूर्ण विश्वास नहीं था कि उसके करुणामय हरि सचमुच

उसे अपना सकेंगे। वह उनसे पर्याप्त दूरी का अनुभव करता था। किन्तु अब वह गोपियों के रूप में कृष्ण के साथ घनिष्ठ आत्मीयता का अनुभव कर चुका है, अतः उसे धृष्टता करने का एक अधिकार-सा मिल चुका है। वह कृष्ण से स्पष्ट और खरी बातें भी कर सकता है। यही कारण है कि उसके दैन्य में निराशा और अविश्वास नहीं हैं। वास्तव में यह दैन्य प्रेम की चरम स्थिति का प्रकाश है जो प्रारंभ में उसने संभवतः आदर्श रूप में भी अनुभव नहीं कर पाई थी। प्रेम की प्राप्ति हो जाने पर विरह की करुणा भी एक प्रकार का सुख ही देती है। किन्तु यह विशेष रूप से देखने योग्य है कि दैन्य भाव सूरदास के मानस का एक स्थायी भाव है जो उनकी श्रद्धा, विनयशीलता, भक्ति-भावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है। भक्त के लिए यह भाव परम आवश्यक है। दैन्य के बिना भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

विस्मय और रहस्यानुभूति

मानव-मन की विविध वृत्तियों को पार्थिव धरातल से ऊँचा उठा कर जो उदात्त कल्पना और गंभीर अनुभूति उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाती है उसमें किसी न किसी रूप में विस्मय का भाव अनिवार्य है। ज्ञान के क्षेत्र में भी सूक्ष्म अनुसंधान और तात्त्विक विचार विस्मयव्यंजक होते हैं। भाव और भक्ति के क्षेत्र में लघु और सीमित मानव के विराट् और असीम के साथ कल्पित किए हुए किसी भी संबंध में सहज ही चकित करने की प्रवृत्ति होती है। विस्मय का भाव मानव के आदिम भावों में से है। किन्तु साथ ही यह भी असं-

दिग्ध है कि ज्ञान-विस्तार और संस्कार इस भाव को कुण्ठित करने में समर्थ नहीं हुए, प्रत्युत् ज्ञान की गहराइयों और संस्कारों के परिशोध से विस्मय की अनुभूति अधिकाधिक सूक्ष्म होती गई है। मनुष्य के सत्यान्वेषण की सभी प्रकार की चेष्टाओं में विस्मयानुभूति की स्थितियाँ प्रायः आती रहती हैं। धर्म-दर्शन के क्षेत्र में हमारे यहाँ उपनिषदों में इस अनुभूति के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। वेद के पुरुष सूक्त में आदि पुरुष के इस वर्णन में विस्मय की कैसी विराट् व्यंजना है—

सहस्र शीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्र पात् ।

सभूमि ँ् सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

उपनिषद् में 'नेति, नेति' कह कर अथवा 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' आदि कह कर जिस विरोधाभास का प्रयोग किया गया है उसमें विस्मय का भाव ही निहित है। मनुष्य की सीमित वाणी चाहे जिस भाषा में विराट् और असीम का वर्णन करे, उसमें अनिर्वचनीयता का भाव आ ही जाता है। मनुष्य की अभिव्यक्ति के सभी साधन, स्वर, भाषा, रंग और रेखाएँ, मिट्टी या पत्थर आदि अपूर्ण और स्थूल हैं। तात्त्विक सूक्ष्मता इन सभी साधनों से अतीत है। यह तात्त्विक सूक्ष्मता जब भाव की गंभीरता से समन्वित हो जाती है, तभी अभिव्यक्ति में रहस्यात्मकता आ जाती है। भारतीय मनीषियों ने तत्त्व-वर्णन के लिए जिन रूपकों को चुना है उनमें अवतारवाद सबसे अधिक स्थूल और साधारणतया सुगम है। किंतु थोड़ा सा विचार करने पर इसकी स्थूलता ही इसकी सुगमता में बाधक हो जाती है। जो अज, अनादि, अनंत, निर्गुण, निर्विकार और निराकार है, वह

मानव रूप में कैसे अवतरित हुआ यह एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान बुद्धि और तर्क के द्वारा असम्भव-प्राय है। यही समस्या गोस्वामी तुलसीदास के शिवजी के सम्मुख थी और इसी को लक्ष्य करके उन्होंने कहा था कि निर्गुण रूप सुगम है, किंतु सगुण को जानना बहुत कठिन है। फिर भी सगुण रूप में प्रारम्भिक कठिनाई को श्रद्धा और विश्वास की सहायता से दूर कर लेने के बाद अपेक्षा-कृत अधिक सरलता और सुगमता आ जाती है। उसका वर्णन अपेक्षाकृत अत्यन्त सरल हो जाता है, क्योंकि समस्त मानवीय साधनों का स्वेच्छापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। इसके विपरीत, निर्गुण रूप सदैव अनिर्वचनीय ही रहता है, उसके वर्णन के प्रयत्न इसी अनिर्वचनीयता की स्वीकृति में परिणत हो जाते हैं। इसी कारण सूरदास ने प्रारम्भ में ही कह दिया—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगें मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सब हीं सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप, रेख, गुन, जाति, जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं 'सूर' सगुन पद गावै ॥२॥

किन्तु सगुण का वर्णन कितना भी स्थूल क्यों न हो, मूलतः रहस्यव्यंजक है। सूर के सगुण-वर्णन की उक्त प्रतिज्ञा में ही जिस प्रारम्भिक मान्यता को स्वीकार किया गया है, उसकी अनुभूति कराने के लिए कवि को बार-बार जो प्रयत्न करने पड़े हैं, वे विस्मय और

रहस्य से समन्वित हैं। वह मानवीय-जैसी सगुणता और इहलौकिकता वास्तव में अतिमानवीय और अलौकिक है, इस विश्वास की प्रतीति कराने के लिए कवि को निरंतर मनुष्य की विस्मय-प्रवृत्ति और रहस्य-प्रियता को उदात्त रूप में जगाने का प्रयत्न करना पड़ा है। प्रारम्भ में सूरदास ने अपनी रहस्यान्वित उदात्त चित्तवृत्ति को उस अवर्णनीय लोक की ओर प्रेरित करने का उद्योग किया, जहाँ अखण्ड सुख और अबाध आनंद का राज्य है। वे कहते हैं—

चकई री चलि।चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।

जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ सोई सायर सुख जोग....।।३३७।।

किंतु यह पद्धति सूर की अपनी पद्धति नहीं थी। वे रहस्य को अधिक इंद्रियग्राह्य रूप में उपस्थित करने के इच्छुक थे। इसीलिए उन्होंने परम, अपार्थिव, अलौकिक सौंदर्य और सर्वोच्च रस एवं आनंद को श्रीकृष्ण के रूप और लीला में मूर्तिमान किया। कहीं ऐसा न हो कि इस रूप और इस चरित को कोई इहलौकिक और मानवीय समझ ले, इसीलिए सूर ने बार-बार स्मरण दिलाया कि—

आदि सनातन हरि अविनासी। सदा निरन्तर घटघटवासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन, सिव अन्त न जानैं।
गुन गन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।
अगम अगोचर लीलाधारी। सो राधा-बस कुंज-बिहारी।
जो रस ब्रह्मादिक नहिं पावैं। सो रस गोकुल-गलिनि बहावैं।
'सूर' सुजस कहि कहा बखानै। गोबिंद की गति गोबिद जानै।।६२१।।

गोकुल में कृष्ण का अवतार क्या है? स्वयं परम शोभा और

परम आनन्द की राशि मानो साकार हो कर उतर आई है—

सोभा सिंधु न अन्त रही री।

नन्द भवन भरि पूरि उमँगि चलि ब्रज की बीथिनि फिरति बही री,

जसुमति उदर अगाध उदधि तैं, उपजी ऐसी सबनि कही री!

'सूर' स्याम प्रभु इन्द्र नीलमनि ब्रज-बनिता उर लाइ गही री ॥६४७॥

श्रीकृष्ण अपने बाल-विनोद में अपने पैर का अँगूठा मुँह में ले कर चूसने लगते हैं। इसी पर कवि प्रलय का दृश्य चित्रित करके कृष्ण के दैवी रूप का मनोहर संकेत करता है—

....जा चरनारबिंद के रस कौं सुर-मुनि करैं बिषाद।

सो रस है मोहूं कौं दुरलभ, तातैं लेत सवाद।

उछरत सिन्धु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ।

सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।

बढ़्यो बृच्छ बट, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।

महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात....॥६८२॥

बाल्यावस्था का अत्यन्त सहज वर्णन करते हुए इसी प्रकार सूरदास ने कभी स्पष्ट और कभी अत्यन्त कलात्मक संकेत किए हैं। ऐसे संकेतों पर स्वयं उन्होंने एक स्थल पर कहा है—

सूरज प्रभु की अद्भुत लीला जिन जानी तिन जानी।

बलराम इस अद्भुत लीला की ओर प्रायः संकेत कर देते हैं, किंतु उसे जो जानते हैं, वे ही जानते हैं। जब वे कहते हैं 'या के माइ न बाप' तब उनका इसी प्रकार का संकेत होता है।

कृष्ण के सभी कार्यों में कुछ न कुछ विलक्षणता रहती है।

कालियदमन के प्रसंग में ऐसे अनेक संकेत हैं जो विस्मय की व्यंजना करते हैं, यथा—

फन फन प्रति निरतत नँदनंदन।
जल भीतर जुग जाम रहे कहुँ, मिट्यौ नहीं तन-चंदन।
उहै काछनी कटि पीताम्बर, सीस मुकुट अति सोहत।
मानौं गिरि पर मोर अनन्दित देखत ब्रज-जन मोहत।
अम्बर थके अमर ललना सँग जै जै धुनि तिहुँ लोक।
'सूर' स्याम काली पर निरतत आवत हैं ब्रज ओक ॥११८२॥

'दावानल पान' का प्रसंग स्वयं आश्चर्यजनक है, जिसे देख कर नर-नारी चकित हो गए। पृथ्वी से आकाश तक घोर लपटें उठ रही थीं, पर न तो पानी बरसा, न किसी ने आग को बुझाने का प्रयत्न किया, फिर भी आग की कराल ज्वाला एकदम लुप्त हो गई। किंतु गोपाल क्या कहते हैं—

तृन की आगि बरत ही बुझि गई, हँसि हँसि कहत गोपाल।
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह, ऐसे प्रभु के ख्याल ॥१२१६॥

कृष्ण के वे सभी कृत्य आश्चर्यचकित करने वाले हैं जो असुरों के संहार अथवा इंद्रादि देवताओं के गर्व खण्डन से संबंध रखते हैं। उनकी विस्मयव्यंजकता अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। किंतु उनकी आनन्द-क्रीड़ाओं में भी कवि ने रहस्यात्मक-जैसे संकेत किए हैं। दान-लीला में कृष्ण स्वयं अपनी काली कमरी का रहस्य बताते हैं—

यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनौ अनुमानति।

या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटम्बर ।
सो कमरी तुम निंदति गोपी जो तीन लोक आडम्बर ।
कमरी के बल असुर सँहारे कमरिहि त्तैं सब भोग ।
जाति पाँति कमरी सब मेरी 'सूर' सबहि यह जोग ॥२१३३॥

कृष्ण की कमरी कितनी रहस्यमयी है ! तीनों लोक उसी कमरी से ढके हुए हैं । कमरी की ही शक्ति असुर-संहार और रसानन्द-लीलाओं में निहित है । कमरी ही योग है, कमरी ही भोग, कमरी ही शक्ति और कमरी ही कृष्ण को समझने की कुंजी ! यह कमरी कृष्ण की रहस्यमयी योगमाया है जिसे हम अपनी-अपनी बुद्धि से भिन्न-भिन्न रूप में समझते हैं । इसी प्रसंग में कृष्ण गोपियों से दान माँगते-माँगते उस नृपति का परिचय देते हैं जिसकी आज्ञा से वे दान माँग रहे हैं—

मोसौं सुनहु नृपति को नाउँ ।
तिहूँ भुवन भरि गम्य है जाकौ नर नारी सब गाउँ ।
गन गंधर्व वस्य वाही के अवर नहीं सरि ताहि ।
उनकी अस्तुति करौं कहाँ लगि मैं सकुचत हौं जाहि ।
तिनही कौ पठयौ मैं आयौ दियौ दान कौ बीरा ।
'सूर' रूप जोबन धन सुनि कै देखत भयौ अधीरा ॥२१९७॥

कवि ने यहाँ काम भाव का मानवीकरण करके उसकी व्यापकता व्यंजित की है । आगे श्रीकृष्ण ने यह बात खोल दी कि वे कामी को कामी और योगी को योगी रूप में प्राप्त होते हैं । उनके कहने का तात्पर्य यह है कि संपूर्ण समर्पणयुक्त भाव से, जिसमें सांसारिक स्वार्थ का लेश भी न हो मनुष्य को लोकातीत आनंद की प्राप्ति होती है ।

दानलीला के अंत में गोपियों के जिस आत्म-समर्पण का कवि ने वर्णन किया है वह एकमात्र मानसिक है। उसमें शारीरिकता का संकेत भी नहीं है। गोपियाँ आत्म-विभोर हो कर मन ही मन में समर्पण करती हैं—

मन यह कहति देह बिसराएँ।
यह धन तुमहीं कौं सँचि राख्यौ तेहि लीजै सचु पाएँ।
जोबन रूप नहीं तुम लायक तुमकौं देति लजातिं।
ज्य बारिध आगैं जल कनिका बिनय करतिं इहिं भाँति।
अमृत रस आगैं मधु रंचक मनहिं करति अनुमान।
'सूर' स्याम सोभा की सींवाँ को पटतर को आन ॥२२०८॥

श्रीकृष्ण अन्तर्यामी ने भी मन ही मन में उनका आत्मसमर्पण स्वीकार कर लिया—

अंतरजामी जानि लई।
मन मैं मिले सबनि सुख दीन्हौं तब तनु की कछु सुरति भई।

....

'सूरदास' प्रभु अंतरजामी गुप्तहि जोबन दान लयौ ॥२२०९॥

श्रीकृष्ण और राधा के मिलन-सुख और गोपियों के संयोग का वर्णन करने में सूरदास ने प्रायः इस प्रकार के आध्यात्मिक संकेत किए हैं जिनसे उनकी पार्थिवता और ऐन्द्रियता अलौकिकता और अतीन्द्रियता में बदल जाती है। गोपी जब कहती है—

का यह 'सूर' अचिर अवनी तनु तजि अगास पिय भवन समैहौं।
का वह ब्रज वापी क्रीडा जल भजि नँद-नंद सबै सुख लैहौं....॥२२८६॥

तब उसके प्रेम का अतिप्राकृत रूप स्पष्ट झलकने लगता है। राधा

और कृष्ण के प्रेम को तो कवि ने बार-बार चिरंतन और पुरातन प्रेम कहा ही है—

....प्रकृति पुरुष नारी मै वै पति काहैं भूलि गई।
को माता को पिता बन्धु को यह तौ भेंट नई।
जन्म जन्म जुग जुग यह लीला प्यारी जानि लई।
'सूरदास' प्रभु की यह महिमा यातैं बिबस भई ॥२३०६॥

राधा के उस रूप-वर्णन में जो उसके अतिरिक्त कृष्ण-प्रेम का व्यंजक है,सूरदास ने कूट शैली का प्रयोग करके उसकी असाधारणता और विलक्षणता का सकेत किया है। कृष्ण-सुख का अनुभव साधारण भाषा में वर्णन करने योग्य नहीं है। कभी कभी राधा के प्रेमानुभव को भी कवि ने रहस्यात्मक ढंग से वर्णित किया है—

जब प्यारी मन ध्यान धर्यौ है।
पुलकित उर रोमांच प्रगट भए अंचर टरि मुख उघरि पर्यौ है।
जननी निरखि रही वा छबि कौ कहन कहै कछु कहि नहिं आवै।
चकित भई अँग अंग बिलोकत दुख सुख दोऊ मन उपजावै।
पुनि मन कहति सुता काहू को कीधौं यह मेरी है जाई।
राधा हरि के रंगहि राची जननी रही जिये भरमाई....॥२३३१ ॥

इसी प्रकार राधा के आध्यात्मिक सुख का प्रकाश प्रायः उनके शरीर की पुलक, वाणी के मुखर मौन तथा नेत्रों के स्फुरण से प्रकट हो जाता है। कृष्ण के सौदर्य-दर्शन मे राधा का अनुभव अत्यंत रहस्यमय होता है। उसे न वे स्पष्ट समझ पाती हैं, न उसका वर्णन कर पाती हैं। वे कहती हैं कि श्याम से पहिचान कैसी ! वे असीम हैं, उनका

रूप प्रतिक्षण बदलता रहता है, एक क्षण भी उस असीम शोभा की राशि को मन में नहीं रखा जा सकता। वे हैरान हैं—

सखि, यह बिरह, संजोग कि सम रस, सुख, दुख, लाभ कि हानि।

....॥२४०७॥

सूरदास की सबसे अधिक रहस्यात्मक उक्तियाँ मुरली के संबंध में हैं। मुरली का मधुर नाद लोक-लोकांतर व्यापी है, उसका न आदि है और न अंत। वस्तुतः वह शब्द-ब्रह्म का ही एक रूप है जो श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से लोकातीत रहस्य की अनुभूति का संकेत कराता है। वंशी की ध्वनि सुन कर चराचर लोक अपना सांसारिक स्वभाव भूल कर एक अनिर्वचनीय आनंद की स्थिति को प्राप्त होते हैं—

बांसुरी बजाइ आछे रंग सौं मुरारी।
सुनि कैं धुनि छूटि गई संकर की तारी।
बेद पढ़न भूलि गए ब्रह्मा ब्रह्मचारी।
रसना गुन कहि न सकै ऐसी सुधि बिसारी।
इन्द्र सभा थकित भई; लगी जब करारी।
रंभा कौ मान मिट्यौ, भूली नृतकारी।
जमुना जू थकित भई, नहीं सुधि सँभारी।
'सूरदास' मुरली है तीन लोक प्यारी॥१२६७॥

मुरली की भनक कान में पड़ते ही गोपियाँ तन की सुधि भूल जाती हैं। उनका रूप-यौवन का सारा गर्व नष्ट हो जाता है और वे लोक-कुल की मर्यादा को तिलांजलि दे कर कृष्ण की ओर बराबर खिच चली आती हैं। उनके लिए घर में ठहराना असंभव हो जाता

है, वे अत्यंत अधीर हो जाती हैं। रास-क्रीड़ा के पहले जब वन में कृष्ण ने बंशी बजाई—

जबहिं बन मुरली स्रवन परी।
चक्रित भईं गोप-कन्या सब काम धाम बिसरीं।
कुल मर्जादा वेद की आज्ञा नैंकहुँ नहीं डरीं।
स्याम सिंधु सरिता ललनागन जल की ढरनि ढरीं।

....

सुत पति नेह भवन जन संका लज्जा नहिं करी।
'सूरदास' प्रभु मन हरि लीन्हौ नागर नवल हरी ॥१६१८॥

मुरली-नाद का प्रभाव लोकातीत है। स्वयं नारायण उसे सुन कर ललचाने लगते हैं। रास का सर्वोत्तम आनन्द मुरली-वादन में ही केन्द्रीभूत है। उसमें कण-कण को स्पंदित करने की शक्ति है—

रास रस मुरली ही तैं जान्यौ।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियो मारग चन्द्र हिरान्यौ।
धरनि जीव जल थल के मोहे नभ मंडल सुर थाके।
तृन द्रुम सलिल पवन गति भूले स्रवन सब्द पर्‌यौ जाके।
बच्यौ नहीं पाताल रसातल कितिक उदै लौं भान।
नारद सारद सिव यह भाषत कछु तनु रह्यौ न स्यान।
यह अपार रस रास उपायौ सुन्यौ न देख्यौ नैन।
नारायन धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर रस बैनु।
कहत रमा सौं सुनि सुनि प्यारी बिहरत हैं बन स्याम।
'सूर' कहाँ हमकौं वैसौ सुख जो बिलसति ब्रजबाम ॥१६८७॥

नित्य वृन्दावन की कल्पना भी इसी प्रकार अद्‌भुत और विस्मय-जनक है। वह श्रीकृष्ण के परमानन्द रूप का रूपकमय वर्णन है। वहाँ नित्य रास-क्रीड़ा, नित्य जल-विहार, नित्य प्रेम-केलि होती रहती है, त्रिविध समीर बहती रहती है, सदा बसंत रहता है, सदा हर्ष रहता है, सदा कोकिल-कीर कलरव करते रहते हैं, विविध सुमन फूले रहते हैं, जिन पर उन्मत्त भ्रमर गुंजार करते रहते हैं। वहीं नवल पल्लवों के नवीन कुंज-वन में श्रीकृष्ण अनेक साथियों के साथ विहार करते रहते हैं।

काव्य में बिखरे हुए इस प्रकार के रहस्यात्मक संकेत कृष्ण की प्राकृत-जैसी लीला के अतिप्राकृत और लोकातीत रूप की सूचनाएँ देते हैं और उसके सम्बन्ध में जड़ता और सांसारिकता के भ्रम को दूर कर देते हैं। सूर-काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए उनके इस विस्मय भाव को समझना अत्यंत आवश्यक है। इसको बिना समझे उसके वास्तविक रस को नहीं समझा जा सकता।

विनोद-व्यंग्य

सूर के भाव जगत् के विश्लेषण में उनके स्वभाव के एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग का उल्लेख आवश्यक है जिसके कारण उनकी भक्ति-भावना निर्वेद और दैन्य में ही सीमित नहीं रह सकी, बल्कि उसका विस्तार प्रेम के उस विविध भावमय लोक में हुआ जिसकी व्यापकता में मनुष्य की चित्तवृत्ति के लगभग सभी रूपों का समावेश हो जाता है। वह है सूर के स्वभाव की विनोदप्रियता। विनय के पदों में अपना दैन्य प्रदर्शित करते हुए भी वे अपने करुणामय भगवान् से व्यंग्य करने में नहीं

चूकते । कभी-कभी उनका व्यंग्य काफ़ी तीक्ष्ण हो उठता है । वे पूछते हैं—

पतितपावन हरि विरद तुम्हारौ कौनैं नाम धर्‌यौ ?

तथा

मो सौं बात सकुच तजि कहियै ।

कत ब्रीड़त कोउ और बतावौ ताही के ह्वै रहियै ।

किन्तु दैन्य भाव अत्यन्त संकोचनशील होता है, अतः यहाँ सूर की विनोद-वृत्ति पूर्ण रूप से विकास का अवसर नहीं पाती । कृष्ण-लीला के ही वर्णन में वे खुल कर हँस सकते हैं । यशोदा का वात्सल्य अत्यन्त उत्फुल्लकारी है । कृष्ण की विनोदपूर्ण बाल-लीला देख कर उन्हें हँसने, परिहास करने तथा उपहास और व्यंग्य करने के असंख्य अवसर मिलते हैं। कृष्ण के जागने, साने, खाने, पीने, खेलने, झगड़ने —उनके सभी क्रिया-कलाप में हँसने-हँसाने के न जाने कितने अवसर आते हैं, जब प्रेम की चिन्ता और आशंका समन्वित गम्भीरता में भी सूरदास की विनोद-प्रवृत्ति प्रकाशित हो जाती है । कृष्ण अभी घुटनों हीं चलते हैं । किलकते-किलकते कभी वे माता की ओर दौड़ जाते हैं, कभी पिता की ओर, और दौड़ते-दौड़ते कभी गिर पड़ते हैं, कभी उठ कर फिर दौड़ने लगते हैं । इस बाल-विनोद को देख कर माता-पिता दोनों परस्पर होड़ करने लगते हैं—

....इत तैं नन्द बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री ।

दम्पति होड़ करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौं री....॥७१६॥

श्याम खिलौने के साथ खेलते हुए नंद-यशोदा तथा ब्रजवासी

जिस आनन्द-विनोद में मग्न हैं वह सूरदास के मन का सबसे प्रिय विषय है। चन्द्र के लिए झगड़ते हुए कृष्ण माँ से कहते हैं कि यदि मुझे चन्द्रमा न देगी तो मैं न तो तेरी गोद में आऊँगा, न दूध पिऊँगा, न बेणी गुहाऊँगा और न तेरा पुत्र रहूँगा, बाबा का ही पुत्र हो जाऊँगा। इस पर यशोदा कहती हैं—

आगैं आउ बात सुन मेरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति कहति जसोमति, नई दुलहिया देहौं।

कृष्ण इस प्रस्ताव को सुन कर कहते हैं कि मैं तो अभी-अभी ब्याह करने जाऊँगा। सूरदास भी इस विनोद व्यापार में सम्मिलित हो जाते हैं—

सूरदास ह्वै कुटल बराती, गीत सुमंगल गैहौं ॥८११॥

गोचारण में बलराम द्वारा चिढ़ाए जाने की शिकायत जब कृष्ण माता से करते हैं, तब हँसी के एक अत्यन्त उत्फुल्ल वातावरण की सृष्टि हो जाती है। कृष्ण कहते हैं, मैं अब खेलने नहीं जाऊँगा, क्योंकि बलराम मुझे बहुत खिझाते हैं। मोहन की ऐसी तोतली बातें सुन-कर—

पाछे नन्द सुनत हे ठाढ़े, हँसत हँसत उर लैया।
'सूर' नन्द बलरामहिं धिरयौ, तब मन हरष कन्हैया॥८३५॥

कभी-कभी यशोदा कृष्ण के सखाओं को इकट्ठा करके आँखमिचौनी का खेल खिलाती हैं। कृष्ण आँख मीचते हैं, बलराम तथा अन्य सखा छिपते हैं। यशोदा संकेत करके कृष्ण की सहायता करती हैं, किन्तु कृष्ण किसी विशेष सखा को ही छूना चाहते हैं—

....दौरि दौरि बस बालक आवत छुवत महरि कौ गात ।
सब आए रहे सुबल श्रीदामा हारे अब कैं तात ।
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ ।
दै दै सौहैं नन्द बबा की, जननी पै लै जाइ ।
हँसि हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर ।
'सूरदास' हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ हैं सुत मोर ॥८५८॥

कृष्ण की संपूर्ण लीला उनका विनोद-मात्र है और उस विनोद में ब्रजवासी तल्लीन रहते हैं। इस लीला के अन्तर्गत विनोद का स्वच्छंद प्रकाशन यशोदा के साथ कृष्ण की नित्यलीला में, सखाओं के साथ क्रीड़ा और गोचारण में, गोपियों के साथ माखन-चोरी, केलि विलास, रास-रंग, बसंत-विहार आदि प्रसंगों तथा राधा के साथ भौंरा-चकडोरी के बाल्यकालीन खेलों से ले कर विविध अवस्थाओं की क्रीड़ाओं, मान-मनुहारों आदि में हुआ है। गोपाल का आनन्द-विनोद मानो शाश्वत और अनन्त है। किन्तु इस साधारण हास-परिहास तथा मोद-विनोद के बीच-बीच कभी-कभी अट्टहास और व्यंग्य की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। बालिका राधा जब यशोदा के यहाँ आती है तो यशोदा मन ही मन हर्षित हो कर उससे पूछती हैं—

नाम कहा तेरौ री प्यारी ।
बेटी कौन महर की है तू, को तेरी महतारी ।

....

मैं बेटी बृषभानु महर की, मैया तुमकौं जानति ।
जमुनातट बहु बार मिलन भयौ तुम नाहिंन पहचानति ।

ऐसी कहि वाकों मैं जानति, वह तौ बड़ी छिनारि ।
महर बड़ौ लंगर सब दिन कौ, हंसति देति मुख गारि ।
राधा बोलि उठी बाबा कछु तुमसौं ढीठौ कीन्हौ, ।
ऐसे समरथ कब मैं देखे ; हंसि प्यारिहिं उर लीन्हौ ॥१३२१॥

यशोदा और राधा के इस व्यंग्य का कारण यशोदा की वह सुखद कल्पना है जिसके कारण वे कहती हैं—

भली स्याम की जोटी ।

उधर राधा की माता भी राधा की सराहना करके कहती है—

....भली कही तू मेरी बेटी, लयौ आपनौ दाउ ।
जो मोहिं कह्यौ सबै गुन उनके, हँसि हँसि कहति सु भाउ ।
फेरि फेरि बूझति राधा सौं, सुनत हँसति सब नारि ।
'सूरदास' बृषभानु-घरनि, जसुमति कौं गावति गारि ॥१३२७॥

हँसते-हँसते कभी-कभी यशोदा राधा से भी व्यंग्य करने लगती हैं। वे कहती हैं कि तू इस प्रकार बन-ठन कर मेरे यहाँ क्यों आती है, क्यों उसके काम में बाधा डालती है ? यदि आना है तो साधारण रूप में क्यों नहीं आती ?—

बार बार तू ह्याँ जनि आवै ।
मैं कह करौं, सुतहिं नहिं बरजति, कर तैं मोहिं बुलावै ॥
मोसों कहत तोहि बिनु देखैं, रहत न मेरौ प्रान ।
छोह लगति मो कौं सुनि बानी, महरि तुम्हारो आन ।
मुँह पावति तबहीं लौं आवति, औरै लावति मोहिं ।
'सूर' समुझि जसुमति उर लाई, हंसति कहति हौं तोहिं ॥१३४१॥

संयोग-सुख के वर्णन में दानलीला का प्रसंग सूरदास की अर्थ-गर्भित व्यग्य रचना का सबने उत्तम उदाहरण है। यो तो समस्त दान-लीला एक गंभीर व्यंग्य है जिसका सकेत उसके रूप के सर्वथा विपरीत है, किन्तु उसमें कृष्ण और गोपियो की बात-चीत में अनेक चुटीले और मार्मिक वाक्यो का प्रयोग कवि की प्रतिभा का द्योतक है। दान माँगने वाले कृष्ण से गोपियाँ कहती हैं—

कहा हमहिं रिस करत कन्हाई ।
यह रिस जाइ करौ मथुरा पर, जहँ है कंस कसाई ।
अब हम कहाँ जाइ गुहरावैं, बसति तिहारैं गांउं ।
ऐसे हाल करत लोगनि के, कौन रहै इहिं ठाउं ।
अपन घर के तुम राजा हौ तुम्हरो राजा कंस ।
'सूर' स्याम हम देखत बाढ़े अब सीखे ये गंस ।।२१२९।।

कृष्ण हँसी-हँसी में ही कह जाते हैं कि कंस का नाम क्या लेती हो ? उसे मैं पल भीतर मार गिराऊँगा। तब तुम मथुरापति का नाम सुनना जब मैं उसके केश पकड कर धर पटकूं। क्या मैंने गिरिवर उठा कर ब्रज की रक्षा नहीं की थी ? व्यग्य-विनोद के वातावरण में गोपियाँ कृष्ण की गूढ़ बातों का अर्थ नहीं समझतीं और कहती हैं कि गिरिवर तो अपने घर का था, उसे उठा लिया। उसी के बल पर दान माँगते हो ? गाएँ चराते फिरते हो और हाथ में लकड़ी लिए घूमते हो। इसी पर कृष्ण अपनी कमरी का रहस्य समझाने की चेष्टा करते है। किन्तु गोपियाँ कहती हैं—

....जो हम तुमहिं कह्यौ चाहति हौ सो श्रीमुख प्रगटायौ।
नीके जाति उघारि आपनी जुवतिनि भलै हँसायौ॥
तुम कमरी के ओढ़नहारे पीतांबर नहिं छाजत॥
'सूरदास' कारे तन ऊपर कारी कामरि भ्राजत॥२१३५॥

कृष्ण जब दान के लिए अत्यधिक आग्रह करते हैं और अपना अधिकार सब के ऊपर जताते है तब गोपियाँ व्यंग्य मे कहती है—

जौ तुमहीं हौ सबके राजा।
तौ बैठौ सिंहासन चढ़ि कै चमर छत्र सिर भ्राजा।
मोर मुकुट मुरली पीतांबर छाड़ौ नटवर-साजा।
बेनु बिषान शंख क्यौं पूरत बाजैं नौबति बाजा।
यह जु सुनै हमहूँ सुख पावैं संग करै कछु काजा।
'सूर' स्याम ऐसी बातैं सुनि हमकौं आवति लाजा॥२१६४॥

निश्चय ही गोपियाँ कृष्ण का राजा रूप मे नहीं देखना चाहतीं, पर यहाँ तो वे उनकी हँसी उड़ा रही है।

किन्तु, वियोग दशा का व्यंग्य इससे कहीं अधिक तीक्ष्ण और मर्म-वेधी है! गोप सखाओ के कन्हैया जिनके साथ वे नित्य-प्रति हँसते-खेलते, लड़ते-झगड़ते थे, जब मथुरापति हो जाते हैं, तब उनका प्रेम तीक्ष्ण व्यंग्य मे प्रकट होता है—

ग्वारनि कही ऐसी जाइ।
भए हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाइ।
सूत मागध बदत बिरदनि, बरनि बसुद्यौ तात।
राज भूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात।

मातु पिता बसुदेव देवै, नंद जसुमति नाहिं ।
यह सुनत जल नैन ढारत, मींजि कर पछितांहिं ।
मिली कुबिजा मलै लै कै सो भई अरधंग ।
'सूर' प्रभु बस भए ताकैं, करत नाना रंग ॥३७५६॥

सखागण बराबर होने के नाते कृष्ण से ऐसा व्यंग्य कर सकते हैं। किन्तु नन्द और यशोदा तो अपने को ही लांछित करते हैं। वे एक दूसरे को दोष दे कर तीव्र आलोचना करते हैं। वास्तव में उसमें प्रेम का ही गहरा व्यंग्य है।

वियोग दशा में गोपियाँ सबसे अधिक मुखर हो जाती हैं। सखाओं के द्वारा कृष्ण और कुब्जा के अनमेल प्रेम का संवाद सुन कर उन्हें बड़ी हँसी आती है। वे किसे दोष दें, कुबिजा को वा कान्ह को ?

देखौ कूबरी के काम ।
अब कहावति पाटरानी, बड़े राजा स्याम ।
कहत नाहिं कोउ उनहिं दासी, वै नहीं गोपाल ।
वै कहावति राज-कन्या, वै भए भूपाल ।
पुरुष कौं री सबै सोहै, कूबरी केहि काज ।
'सूर' प्रभु कौं कहा कहिए, बेचि खाई लाज ॥३७६८॥

गोपियाँ यह सोच कर हैरान हैं कि कृष्ण ने यह किया क्या ? क्या उन्होंने कुब्जा के ही लिए कंस का वध किया था ? क्या उन्हें और कोई स्त्री नहीं मिल सकती थी ? कृष्ण की निठुरता उनके लिए बड़ी दुखदायी है। वे कहती हैं—

सखी री, काके मीत अहीर ।

काहे कौं भरि भरि डारति है, इन नैननि कौ नीर....॥३७७४॥

कृष्ण ने कुब्जा से प्रेम किया, गोपाल वेश छोड़ कर राजसी ठाठ अपना लिए, ब्रजवासियों के साथ प्रेम का नाता भुला दिया। यह सब तो गोपियों को व्यंग्य और कटाक्ष के लिए पर्याप्त सामग्री देता ही है; जब वे उद्धव के हाथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना और योगाराधना का संदेश भेजते हैं, तब तो उन्हें एक ऐसा विषय मिल जाता है जिसे लेकर वे व्यंग्य की अजस्र धारा प्रवाहित करने लगती हैं। वे एक दूसरी से कहती हैं—

देन आए उधौ मत नीकौ ।
आवहु री मिलि सुनहु सयानी, लेहु सुजस कौ टीकौ ।
तजन कहन अंबर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौ ।
अंग भस्म करि सीस जटा धरि, सिखवत निरगुन फीकौ ।
मेरे जान यहै जुवतिनि कौ देत फिरत दुख जी कौ ।
ता सराप तैं भयौ स्याम तन, तउ न गहत डर जी कौ ।
जाकी प्रकृति परी जिय जैसी, सोच न भली बुरी कौ ।
जैसैं 'सूर' ब्याल रस चाखैं, मुख नहिं होत अमी कौ ॥४१३२॥

उद्धव ही नहीं, मथुरा ही काजल की कोठरी है, वहाँ से जितने आते हैं सभी काले होते हैं। अक्रूर भी काले थे और कृष्ण की कौन कहे, वे तो सभी से 'मनियारे' हैं, ये सब मानों नील माट में से निकाल कर यमुना में पखारे गए हैं, इसी से बेचारी यमुना भी काली हो गई है। इसी से गोपियाँ कहती —

बिलग जनि मानौ उधौ कारे ।....॥४३८०॥

उद्धव का योग संदेश गोपियों के लिए कितना अनुपयुक्त है, इसे गोपियाँ अनेक व्यंग्य वचनो के द्वारा सिद्ध करती है। व्रज मे तो योग किसी के काम का है ही नही, अतः गोपियाँ कहती है कि अपनी इस बहुमूल्य वस्तु को अपने साथ ही लौटा ले जाना, कहीं भूल न जाना—

ऊधौ जोग बिसरि जानि जाहु ।

बांधौं गाँठि छूटि परिहै कहुँ फिरि पाछे पछिताहु ।

ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर, मरम न जानै और ।

ब्रज-बनितनि के नहीं काम की है तुम्हरेई ठौर ।

जो हित करि पठयौ मनमोहन सो हम तुमकौं दीनौ ।

'सूरदास' ज्यौं बिप्र नारियर, कर हीं बंदन कीनौ ॥४४२७॥

योग है क्या, इसे गोपियाँ जानती भी नहीं। योग का क्या किया जाता है—

ऊधौ जोग कहा है कीजतु ।

ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत ।

कीधौं कछू खिलौना सुन्दर, की कछु भूषन नीकौ....॥४५८४॥

गोपियो की यह मनोदशा उनके प्रेम की ही व्यंजक है। जिस परिस्थिति में यह मनोदशा पैदा होती है, व्यंग्य में ही गोपियाँ उसका वर्णन कर सकती हैं—

ऊधौ नूतन राज भयौ ।

नए गुपाल नई कुबिजा बनी, नूतन नेह ठयौ ।

नए सखा जोरे जादव-कुल, अरि नृप कंस हयौ।
नूतन नारि नए पुर कीन्हौ, तिन अपनाइ लयौ।
बिसरे रास बिलास कुंज सब, अपनी जाति गयौ।
'सूरदास' प्रभु बहुत बटोरी दिन-दिन होत नयौ ॥४५६१॥

सूरदास की विनोदी प्रकृति का यह तीक्ष्ण और कटु रूप द्वेष, अविश्वास अथवा अश्रद्धा का द्योतक नहीं है और न यह स्वभाव की वक्रशीलता अथवा विफलताजन्य निराशा को प्रकट करता है। इसके विपरीत इससे श्रीकृष्ण-प्रेम की गूढ़ता ही व्यंजित होती है।

इस अध्याय में सूर के भाव-जगत् की उन प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है जो उनके भाव-प्रकाशन के मूल में निहित हैं। निर्वेद का भाव उन्हें इसलिए प्रिय है कि संसार की असारता का अनुभव उन्हें प्रति पल होता रहता है। वे संसार के त्याग में ही मानव कल्याण मानते हैं, किन्तु संसार का त्याग दुर्बल मानव के लिए संभव कैसे हो! इंद्रियाँ और मन उसे संसार में लिप्त होने के लिए निरतर प्रेरित करते रहते हैं। अतः अपनी दुर्बलता का ज्ञान उसे सहज ही दुखी और दीन-मलिन बना देता है। करुणामय हरि की कृपा की याचना सूर की दीनता को किंचित् चमत्कृत कर देती है और वे अपनी असमर्थता का सर्व-समर्थ हरि भगवान् के आगे समर्पण करके उनसे अनुग्रह की भिक्षा माँगते हैं। हरि की बहुविध शक्तियाँ उन्हें विस्मय-विमुग्ध करती हैं। किन्तु उनके स्वभाव की सभी विशेषताओं को प्रकाशित होने का अवसर जिस भाव-धारा में मिलता है वह है उनकी और उन्हीं की नहीं, मनुष्य-मात्र की सबसे प्रधान प्रवृत्ति प्रेम या राग। प्रेम या

राग के ही अंतगत उनके स्वभाव की उस विशेषता को प्रकट होने का अवसर मिला है जो मनुष्य को सहज ही एक अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति में पहुँचा सकती है। वह विशेषता है उनकी विनोद-प्रियता। सूर का समस्त काव्य मनुष्य को उस लोकोत्तर रहस्य का अनुभव करा सकता है जिसमें वह अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष और सुख-दुःख से मुक्त हो कर विशुद्ध आनन्द की उपलब्धि कर सके।

७

सौन्दर्य, कला और शैली

सौन्दर्यानुभूति, रस और आनंद

कला और काव्य के सभी समीक्षकों ने काव्य के मूल में किसी न किसी रूप में सौन्दर्यानुभूति की सत्ता स्वीकार की है। सौन्दर्य की परिभाषा देना अत्यंत कठिन है। सौन्दर्य के मान और माप प्रायः व्यक्ति-सापेक्ष, जाति-सापेक्ष, काल-सापेक्ष तथा रुचि-सापेक्ष माने जाते हैं। जो वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर लगती है, वही दूसरे को सुन्दर नहीं लगती अथवा कम से कम उतनी सुन्दर नहीं लगती। साथ ही, सौन्दर्य के प्रतिमान देश, जाति और वर्ग की सामूहिक भावना के द्वारा भी निर्मित होते हैं। चाहे रंग की बात लें, चाहे अंगों के रूप और आकार-प्रकार की—सभी में हमें जातिगत रुचियों की विभिन्नता दिखाई देगी। ऐतिहासिक परम्पराएँ, भौगोलिक परिस्थितियाँ, शिक्षा के संस्कार, आर्थिक-सामाजिक अवस्थाएँ आदि बहुत सी बातें वर्गगत सौन्दर्य-बोध के प्रतिमान स्थिर करने के कारण बनती हैं। यही बातें बहुत कुछ व्यक्तिगत सौन्दर्य-बोध की भिन्नता के मूल में होती हैं। पुनः, व्यक्ति और वर्ग के सौन्दर्य-मान समय और परिस्थिति के अनुसार

भी प्रायः बदल जाते हैं। प्रायः प्रत्येक काल के व्यक्ति अपने समय की रुचि और सौंदर्य-बोध को अपने पूर्व समय की अपेक्षा अधिक उन्नत, परिष्कृत और विकसित मानने का आग्रह करते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति, वर्ग और काल के सौंदर्य-बोध में विभिन्नता और विचित्रता होती है, उसी प्रकार कभी-कभी एक ही व्यक्ति की रुचियो में विविधता देखी जाती है और वह अपने लिए भी सौंदर्य के विविध प्रतिमान बना लेता है। सौंदर्य की अनुभूति जब इतनी विलक्षण है, तब उसकी सर्वमान्य परिभाषा दे सकना असंभव है। परन्तु सौंदर्य-बोध मे कितना ही रुचि-वैचित्र्य हो, सौदर्य के कितने ही मान और माप हों, उसके प्रभाव का परिणाम एक ही है, और वह है आनन्द की अनुभूति। भारतीय मनीषियो ने उसे 'रस' नाम से अभिहित किया है।

जो वस्तु सुन्दर है वह हमें आनन्द देती है। उपर्युक्त रुचि-वैचित्र्य को ध्यान में रख कर हम यह कह सकते हैं कि जो वस्तु हमें आनन्द देती है, वही सुन्दर होती है। सौंदर्य और आनन्द अथवा 'रस' की सापेक्षता मे पूर्वापर की समस्या एक दार्शनिक पहेली है; यहाँ उसे सुलझाने का प्रयत्न अभीष्ट नहीं है। हमारे उद्देश्य के लिए इतना मान लेना अलम् है कि सौंदर्य और रस अन्योन्याश्रित हैं तथा सौंदर्य-भावना की मूल स्थिति भौतिक नहीं, मानसिक अथवा भावात्मक है। रस अथवा आनन्द की अनुभूति करना हमारा प्राकृत धर्म है। उसी अनुभूति के लिए किया हुआ मूर्ति-विधान सौदर्य-सृष्टि है। अतः सौंदर्य वस्तुगत नहीं, दृष्टिगत है; किंतु दृष्टिगत सौंदर्य शून्य में नहीं रह सकता, शून्य मे उसकी कल्पना नहीं हो सकती। अतः हम कह सकते

हैं कि सौंदर्य आनन्द का ही मूर्त रूप है।

हमारी सौंदर्यप्रियता अथवा आनन्द की आकांक्षा हमें सौंदर्य का सान्निध्य प्राप्त करने को प्रेरित करती रहती है। सौंदर्य का मानसिक सान्निध्य ही हमें आनन्दानुभूति कराता है। यह मानसिक सान्निध्य कल्पना-शक्ति पर निर्भर होता है। जब यह कल्पना-शक्ति अत्यधिक तीव्र होती है और उसकी सृष्टि अत्यधिक सघन, तब उसकी अभिव्यक्ति विविध कला-रूपों में दिखाई देती है। संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति तथा शिल्प की कृतियाँ इसीलिए आनंद-प्रदायिनी होती हैं।

सूरदास की रचना भी आनंदानुभूति का ही उद्रेक है, यद्यपि उनका उद्देश्य प्रधानतः भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति था, काव्य-रचना करना नहीं। यह एक विलक्षण संयोग था कि कृष्ण-भक्ति में सौंदर्य और आनंद की प्रेरणा उसी प्रकार उपलब्ध हो गई जिस प्रकार कला और काव्य में होती है। हम पीछे देख चुके हैं कि श्रीकृष्ण को भक्ति के आराध्य रूप में रसेश्वर—शोभा और सौंदर्य की राशि मान कर ग्रहण किया गया है। उनका वास्तव में कोई रूप न होते हुए भी वे, भक्त की भावानुगामिनी कल्पना के अनुसार सौंदर्य के साकार प्रतीक हैं। भक्त उनमें अपनी भावना से मानवीय सौंदर्य की श्रेष्ठतम कल्पना मूर्तिमान देखता है। उनका रूप सुन्दर है, किंतु यह रूप-सौंदर्य गति-शील है। उनका अंग-अंग उस क्षण-क्षण बदलते हुए सौंदर्य को उद्भासित करता है जिसे पूर्णतया देखा भी नहीं जा सकता, वर्णन करने की तो बात ही और है। उनकी प्रत्येक चेष्टा सुन्दर है, उनकी प्रत्येक क्रिया ललित और मनोहर है। कृष्ण के इस रूप-सौंदर्य और

क्रिया-लालित्य के आकर्षण का कोई इतर प्रयोजन नहीं है, मात्र हृदयाकर्षण उसका प्रयोजन है। श्रीकृष्ण का रूप इसलिए सुन्दर नहीं लगता कि उसमें किसी कल्याणकारी चेष्टा की व्यंजना होती है; और, न उनकी क्रियाएँ इसलिए मनोहर लगती हैं कि उनका परिणाम हित-कारी होता है। सौंदर्य का प्रयोजन सौंदर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं, उसका आनन्द स्वतःपूर्ण है। इसी कारण श्रीकृष्ण को रस रूप कह कर उन्हें 'रसो वै सः' के औपनिषदिक ब्रह्म के रूप में माना गया है; इसी कारण उनके क्रिया-कलाप को 'लीला' कहा गया है जिसका प्रयो-जन स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि लीला से भिन्न कुछ भी नहीं है। सूरदास ने इन्हीं रस-रूप श्रीकृष्ण के रूप और लीला के सौंदर्य से प्रभा-वित हो कर अपनी काव्य-रचना की थी। निश्चय ही उनका रूप-चित्रण और लीला-वर्णन दोनों एकमात्र भाव पर आश्रित हैं; उनका सौंदर्य मूलतः भाव का सौंदर्य है, अर्थात् उसकी काव्यगत सृष्टि कवि की आनन्दानुभूति की अतिशयता का प्रकाश मात्र है।

'सूरसागर' में श्रीकृष्ण के शैशव से ले कर कैशोर अवस्था तक के असंख्य रूप-चित्र हैं, जिनमें कवि की भावना, कल्पना, कला कुशलता और शैली की चमत्कारिता एक साथ व्यक्त हुई है।

मानव रूप-सौंदर्य श्यामसुन्दर घुटनों चलते हुए नन्द के आँगन में खेलते हैं। सिर पर वे अनेक रंगों की कुलही पहने हुए हैं, कपोलों पर घुँघराली लटें लटक रही है; अरुण, श्वेत, पीत और नीले रंग का लटकन माथे पर शोभित है; वे किलक कर हँसते हैं तो दूध के छोटे-छोटे श्वेत दाँत चमक जाते हैं; कभी-कभी तुतला कर वे

खंडित शब्द और वाक्य बोलते हैं, घुटनों चलने के कारण उनका शरीर धूल से सना हुआ है। वात्सल्य को उद्दीप्त करने के लिए शिशु का यह सीधा-सादा चित्र भी कम प्रभावशाली न होता, किंतु सूरदास की सौंदर्यानुभूति इसे प्रकृति के सौंदर्य-भण्डार से अनेक उपकरण जुटा कर और अधिक प्रभावशाली बना देती है। उनकी सौंदर्यानुभूति निश्चित रूप से उनकी आनन्दानुभूति पर ही आश्रित है। उनके हृदय का आनन्द ही उन्हें अनेक प्रकार की चित्र-कल्पना करने की प्रेरणा देता है—

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन मैं नैन निरखि छबि पाई।
कुलही लसति सिर स्यामसुंदर कैं बहु बिधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई।
नील, सेत, अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि गुरु-असुर, देव-गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।
दूध-दंत-दुति कहि न जाति कछु, अद्भुत उपमा पाई।
किलकत-हँसत दुरति, प्रगटति मनु, घन मैं बिज्जु छटाई।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन मंडित, 'सूरदास' बलि जाई ॥७२६॥

इसी प्रकार सूरदास ने दिन-दिन बढ़ते हुए कृष्ण की अगणित अवस्थाओं, असंख्य परिस्थितियों तथा भाँति-भाँति के मनोहर प्रसंगों की

कल्पना करके कितने ही चित्र खींचे हैं। पालने में झूलने, हँसने, किलकने, घुटनों चलने, माता का हाथ पकड़ कर लड़खड़ाते हुए चलने, तुतला कर बोलने, नाचने, मक्खन-दूध के लिए झगड़ने, चन्द्रमा के लिए हठ करने, बाल-वृन्द के साथ खेलने, वन से लौटने, मक्खन चुराने, उलूखल से बाँधे जा कर दुखी होने और रोने-बिलखने आदि परिस्थितियों में कृष्ण के बाल रूप की अनुपम शोभा के न जाने कितने जगमगाते और बोलते हुए शब्द-चित्र हैं। इस चित्र-कला में कवि की सौन्दर्यासक्ति उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई है, किन्तु वह सौंदर्यासक्ति सदैव ही भावाश्रित है। उपर्युक्त प्रसंगों तथा इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों के चित्र अधिकतर वात्सल्य का उद्रेक करते हैं, क्योंकि यहाँ कवि के रूप-दर्शन में यशोदा, नन्द आदि का भाव निहित रहता है। शैशव का एक चल-चित्र है—

जसुमति दधि मथन करति, बैठी बर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत नान्ह दँतियनि छबि छाजै।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन हरन-काज मोहिनि दल साजै।
जननि कहति नाचौ तुम देहौं नवनीत मोहन,
रुनुक झुनुक चलत पाइ, नूपुर-धुनि बाजै।
गावत गुन सूरदास, बाढ़्यौ जस भुव अकास,
नाचत त्रैलोकनाथ माखन के काजै ॥७६४॥

जिस प्रकार यह हास-विलास का चित्र वात्सल्य का उद्दीपक है, उसी प्रकार उलूखल से बँधे हुए श्याम के बिलखने का चित्र भी—

देखि री देखि हरि बिलखात।
अजिर लोटत राखि जसुमति, धूरि-धूसर गात।
मूँदि मुख छिन सुसुकि रोवत, छिनक मौन रहात।
कमल मधि अलि उड़त, सकुचत, पच्छ दल आघात।
चपल दृग, पल भरे अँसुवा, कछुक ढरि-ढरि जात।
अलप जल पर सीप द्वै लखि मीन मनु अकुलात।
लकुट कैं डर ताकि तोंहि तब पीत पट लपटात।
'सूर' प्रभु पर वारियै ज्यौं, भलेंहि माखन खात ॥६७८॥

मोहन की त्रास से त्रसित छवि देख कर उन गोपियों के हृदय में भी सरल स्नेह उमड़ आता है जो उनकी माखन-चोरी का उलाहना ले कर आई थीं और जिनके कारण यशोदा ने कृष्ण को बाँध दिया था। अब वे मोहन की माखन-चोरी भी सह सकती हैं, क्योंकि इस रूप ने उन्हें इतना लुभा लिया है कि उन्होंने उस पर अपने प्राण निछावर कर दिए हैं।

किन्तु कृष्ण की मोहनी छवि का सबसे अधिक प्रभाव उन गोपियों पर ही पड़ता है जो मधुर अथवा कांता रति से प्रेरित हैं। कृष्ण का जो बाल रूप नन्द, यशोदा और वयस्क नर-नारियों के वात्सल्य का आलंबन है, वही रूप किशोरियों और नवोढ़ाओं के हृदय में दाम्पत्य भाव जागरित करता है। एक नव वधू अपना अनुभव सुना रही है—

आजु गई हौं नंद-भवन मैं, कहा कहौं गृह चैन री।
चहूँ ओर चतुरंग लच्छिमी कोटिक दुहियत धैन री।

घूमि रहीं जित तित दधि मथनी सुनत मेघ-धुनि लाजै री।
बरनौं कहा सदन की सोभा, बैकुंठहुँ तैं राजै री।
बोलि लई नव बधू जानि जहँ, खेलत कुँवर कन्हाई री।
मुख देखत मोहिनी सी लागै, रूप न बरन्यौ जाई री।

रूप अवर्णनीय है, फिर भी वह प्रयत्न करती है। सूरदास उसके भाव के रूप-लावण्य को चित्रित करने के लिए अपनी प्रखर कल्पना-शक्ति से प्रकृति की सौंदर्य-राशि में से अनेक उपमान खोज लाते हैं—

लटकन लटकि रह्‌ भ्रू ऊपर, रँग रँग मनि गन पोहे री।
मानहुँ गुरु-सनि-सक्र एक ह्वै, लाल भाल पर सोहे री।
गोरोचन कौ तिलक, निकट हीं काजर बिंदुका लाग्यौ री।
मनौ कमल कौ पी पराग, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री।
बिधु आनन पर दीरघ लोचन, नासा लटकत मोती री।
मानौ सोम संग कर लीने जानि आपने गोती री।
सीपज-माल स्याम उर सोहै, बिच बघ-नहँ छबि पावै री।
मनौ द्वैज ससि नखत सहित है उपमा कहत न आवै री।

इतने उपमानों की उत्प्रेक्षा करने के बाद कवि को लगता है कि उसका सौन्दर्य-कोश खाली हो गया और कृष्ण की रूप-राशि का एक अंश भी उसने पूर्णतया नहीं छू पाया। उसकी दशा भरे घर के चोर की हो गई है; क्या छोड़े और क्या उठाए? अतः वह कहता है—

सोभा-सिंधु अंग अंगनि प्रति, बरनत नाहिंन ओर री।
जित देखौं मन भयौ तितहिं कौं मनौ भरे कौ चोर री।

बरनौं कहा अंग-अंग सोभा, भरी भाव जल रास री।
लाल गोपाल बाल छबि बरनत कवि कुल करिहै हास री।
जो मेरी अँखियन रसना होती कहती रूप बनाइ री।
चिरजीवहु जसुदा कौ ढोटा, 'सूरदास' बलि जाइ री।।७५७।।

गोपियों के भाव से चित्रित किए हुए कृष्ण-रूप के चित्र असंख्य हैं। सामान्यतया सूरदास ने कृष्ण के रूप में मानव-सौंदर्य की श्रेष्ठ कल्पना उपस्थित की है। उनका रंग श्याम है, संभवतः पुरुष के श्याम रंग में जो आकर्षण होता है वह गौर वर्ण में नहीं होता। यह भी कल्पना की गई है कि कृष्ण सम्भवतः किसी अनार्य जाति के कुलदेव थे, अतः उनका रंग श्याम बताया गया है। जो भी हो, हमारे देश में श्याम वर्ण सौंदर्य और आकर्षण का प्रतीक माना जाने लगा है। कृष्ण के शरीर का अंग-प्रत्यंग लुभावना है। उनके नख अत्यन्त चमकीले हैं, उनके चरणों का रंग अरुणाभ है, उनके जानु और जंघाएँ मांसल और ऊपर से क्रमशः पतली होती जाती हैं, उनकी कमर क्षीण है, उनका नाभि-प्रदेश अत्यन्त आकर्षक है। नाभि-स्थल से वक्ष तक फैली हुई काली रोम-राजि उनके पौरुष की सूचना देती है, उनके वक्ष पर भृगु-चिह्न है, उनकी भुजाएँ आजानु विशाल हैं, उनके कर कमल के समान कोमल और अरुण हैं तथा उनकी उँगलियाँ पतली और सुन्दर हैं, उनकी ग्रीवा, चिबुक, नासिका, अधर आदि सभी समानुपातिक सौंदर्य से पूर्ण हैं, उनके दशन अत्यन्त श्वेत और चमकीले हैं, उनके नेत्र अत्यन्त विशाल, नुकीले और चंचल हैं, उनकी भृकुटियाँ घनी और धनुषाकार हैं, उनका भाल विशाल, कपोल और गंडस्थल अत्यन्त

शोभाशाली हैं, उनकी अलकें घनी, घुँघराली और अत्यन्त काली हैं। इस सुन्दर शरीर पर धारण किए हुए वस्त्राभूषण उसके सौंदर्य को और अधिक सुन्दर बना देते हैं। सिर पर वे कुलही या मोर-पंखों का मुकुट धारण करते हैं, कभी-कभी उनके मुकुट में मणि-रत्नों के जड़ाव का भी वर्णन किया गया है। उनके कानों में मकराकृत कुंडल शोभित रहते हैं, कंठ में वे कठुला, मुक्ताओं, गुंजा आदि धातुओं, केहरि-नखों, बनफूलों आदि की मालाएँ धारण किए रहते हैं, कटि में पीत वस्त्र बंधा रहता है, शरीर पर भी पीत पिछौरी रहती है, कमर में किंकिणी और हाथों में पहुँचियाँ शोभित होती हैं, भाल पर कभी तिलक, कभी काजल-रेखा, कभी चंदन लगा रहता है और भुजाओं और वक्षस्थल पर भी चंदन के चित्र बने रहते हैं, उँगलियों में मुद्रिकाएँ हैं तथा समस्त शरीर अंगरागों से सुवासित रहता है। किंतु जब उनके अधर पर मुरली विराजती है तथा वे त्रिभंगी रूप में खड़े होते हैं, तब उनका रूप सबसे अधिक आकर्षक लगता है। कभी-कभी, विशेष रूप से गोचारण के समय वे हाथ में एक लकुट भी लिए रहते हैं। निश्चय ही कृष्ण का रूप सूरदास ने जिस प्रकार चित्रित किया है वह सहज आकर्षक और मोहक लगता है। फिर भी वह ऐसा नहीं है जो काल देश, रुचि आदि की सीमाओं का अतिक्रमण कर के समान रूप से सम्मोहक कहा जा सके। रूप और रंग के सम्बन्ध में बराबर मत-भेद हो सकता है, किंतु वेश-भूषा के सम्बन्ध में तो और भी अधिक रुचि-भेद संभव है। उदाहरण के लिए कृष्ण की यह वेश-भूषा आधुनिक वेश-रचना की रुचि के समक्ष ग्राम्य और असंस्कृत समझी

जाएगी। किंतु यह होते हुए भी सूरदास की सौंदर्यानुभूति सार्वकालिक और सार्वजनीन है और इसका कारण यही है कि रूप-सौन्दर्य विषयगत नहीं, व्यक्तिगत और व्यक्ति के भावगत होता है। कृष्ण का सौंदर्य वास्तव में इस बात में है कि वह सूरदास की कल्पना को इतना संवेदित कर देता है कि वे संसार का समस्त रूप-सौंदर्य बटोर कर ले आते हैं। आँखों से देखा हुआ सौंदर्य, कानों से सुना हुआ सौंदर्य, काव्यों में पढ़ा हुआ सौंदर्य, सभी उस रूप-लावण्य पर निछावर हो जाता है और फिर भी कवि को संतोष नहीं होता। वह यही अनुभव करता है कि उसने कुछ नहीं कहा। न तो उस सौंदर्य-दर्शन के लिए उसके पास नेत्र हैं और न, जो वह देख सकता है, उसका भी वर्णन करने के लिए वाणी है। कृष्ण सौंदर्य के सागर हैं। क्या सागर को कोई तैर कर पार कर सकता है? वह सौंदर्य अनंत और अपार है, लोकातीत है, बुद्धि और विवेक उसके सम्मुख तुच्छ हैं। किसी गोपी के शब्दों में सूरदास कहते हैं—

देखौ माई सुंदरता कौ सागर।
बुधि-विवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर।
तनु अति स्याम अगाध अंबु-निधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भँवर परति सब अंग।
नैन-मीन, मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग।
कनक-खचित मनिमय आभूषण, मुख स्रम-कन सुख देत।
जनु जल-निधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत।

देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं बिचारि-बिचारि।
तदपि 'सूर' तरि सकीं न सोभा, रहीं `म पचिहारि ॥१२४६॥

सूरदास अपनी कल्पना के सम्मुख शोभा का जो सागर लहराता हुआ देखते हैं, उसे वे एक सांग रूपक के द्वारा कहना चाहते हैं, उपमेय में उपमान से जो अधिकता और विलक्षणता है उसे वे व्यतिरेक और उत्प्रेक्षा के सहारे सूचित करते हैं, किन्तु फिर भी सौंदर्य का वह सागर उनकी कल्पना में नहीं आता। सूरदास की चित्रण-कला, अलंकार-विधान की कुशलता और शैली की व्यंजकता की सराहना पर्याप्त नहीं है। वास्तव में सराहनीय तो वह भाव है जिसके वशीभूत हो कर वे कहते हैं कि वह रूप-लावण्य देख कर गोपियाँ हैरान हैं, वे सोचती हैं कि उसे कैसे देखें। श्याम का अंग-अंग उनके नेत्रों को लुभाता है, वे क्या-क्या देखें?

तरुनी निरखि हरि-प्रति अंग।
कोउ निरखि नख इंदु भूली कोउ चरन जुग रंग।
कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुग जंघ सोभा करति मन अनुमानि।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि।
कोउ निरखि हृद-नाभि की छबि डार्यो तन मन वारि....॥१२५२॥

किन्तु उस अंग-अंग की शोभा भी तो एक सी नहीं रहती, प्रति क्षण उसका सौंदर्य नवीन आकर्षण उपस्थित करता है! किस प्रकार उसे देखा जाए—

सखी री सुन्दरता कौ रंग।

छिन छिन माँहि परति छवि औरै, कमल नैन कैं अंग।

परिमित करि राख्यौ चाहति हैं, लागी डोलतिं संग।

चलत निमेष बिसेष जानियत, भूलि भई मति भंग।

स्याम सुभग कैं ऊपर वारौं आली कोटि अनंग।

'सूरदास' कछु कहत न आवै भई गिरा-गति पंग ॥१३५८॥

सौंदर्य को आत्मसात् कर लेने की कैसी तीव्र विकलता है ! किन्तु सौंदर्य मन और वाणी की शक्ति से परे है। इस तथ्य को सबसे अधिक राधा ने समझा है, इसी से वे कहती हैं कि मैं तो श्याम को पहचानती भी नहीं। जो रूप क्षण-क्षण परिवर्तनशील हो उसे कैसे पहचाना जा सकता है ? उन्हें उन्होंने कभी अच्छी तरह देख भी नहीं पाया, क्योंकि उस असीम लावण्य के आगे आँखें ठहरती ही नहीं हैं। अतः उनके दर्शन की साध ही एक प्रकार से मिट गई है। फिर भी न जाने उनकी मधुर मूर्ति मन में कहाँ से आ जाती है, जिससे दर्शन की व्याकुलता बढ़ जाती है। वे सखियों से कहती हैं कि तुम्हारा यह विचार भ्रमपूर्ण है कि श्याम मुझे 'खरिक' में मिले या यमुना तट पर मिले या अन्यत्र मिले। मैं तो उन्हें आज भी नहीं पहचानती। तुम कहती हो कि वे आज मिले, कल मिले, पर वास्तव में नेत्रों में वे ऐसे बस गए हैं कि कभी अंतर होते ही नहीं, फिर भी मैंने उन्हें देखा नहीं है। राधा के कथन का विरोधाभास वास्तव में उसके गूढ़ भाव की ही व्यंजना करता है। कृष्ण का सौंदर्य वे देख तो तब सकें जब उनके लाखों लोचन हों, किन्तु लाखों लोचनों से देखे सौंदर्य का वर्णन करना

फिर भी असंभव होगा, क्योंकि लोचन और वाणी भिन्न-भिन्न हैं—

आज के द्यौस कौ सखी अति नहीं
जौ लाख लोचन अँग-अंग होते।
पूरती साध मेरे हृदय माँझ की
देखती सबै छबि-स्याम को ते।
चित्त लोभी नैन-द्वार अति ही सुछम,
कहाँ वह सिंधु-छबि है अगाधा।
रोम जितने अंग, नैन होते संग,
रूप लेती निदरि कहति राधा।
स्रबन सुनि सुनि दहै, रूप कैसैं लहै,
नैंन कछु गहै, रसना न ताकैं।
देखि कोउ रहै, कोउ सुनि रहै जीभ बिनु,
सो कहै कहाँ नहिं नैन जाकैं।
अंग बिनु हैं सबै, नहीं एकौ फबै,
सुनत देखत जबै कहन लोरै।
कहत रसना, सुनत स्रवन, देखत नयन,
'सूर' सब भेद गुनि मनहि तोरै ॥२४७५॥

रसना, श्रवण, नयन और मन—इन्द्रियों के समस्त व्यापार उस शोभा में लीन हो गए हैं। इसीलिए वह शोभा वर्णनातीत है। यही भाव व्यक्त करने के लिए सूर ने नेत्रों की विकलता चित्रित करते हुए सैकड़ों पद रचे हैं। इस शोभा को जो थोड़ा भी अपना लेता है, वह स्वयं भी किसी अंश में शोभाशाली बन जाता है। गोपियाँ इसी

कारण रूपवती हैं। सूरदास जैसा विरक्त भक्त ग्वालिनों के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करने बैठता है, तो इसी भाव से कि उन्होंने अगाध रूप-सौंदर्य का कुछ अंश अवश्य प्राप्त कर लिया है। किंतु उस रूप-सौंदर्य का पूर्ण रसास्वाद तो वास्तव में राधा ही ले सकीं। इसी से स्वयं उनके रूप का आकर्षण अप्रतिम है। सूरदास ने राधा-सौंदर्य के वर्णन में अनेक पद रच कर स्त्री के रूप-लावण्य के चित्रण की प्रतिभा प्रकट की है। राधा की शोभा में भी कृष्ण की भाँति अनिर्वचनीयता और अलौकिकता है। रास के प्रसंग में राधा का एक रूप-चित्रण है—

> **नीलांबर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन में दमकति है दामिनि।**
> **सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि मुनि की है स्वामिनि।**
> **ससि मुख तिलक दियौ मृगमद कौ, खुटिला खुभी जराय जरी।**
> **नासा तिल-प्रसून बेसरि-छबि मोतियन मांग सुहाग भरी।**
> **अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित, गूँथे सुमन रसालहिं।**
> **कबरी अति कमनीय सुभग सिर, राजति गोरी बालहिं।**
> **सिगरी कनक रतन मुक्तामय, लटकत चितहिं चुरावै।**
> **मानौ कोटि कोटि सत मोहिनि, पांइनि आनि लगावै।**
> **काम-कमान समान भौंह दोउ, चंचल नैन सरोज।**
> **अलि-गंजन अंजन-रेखा है, बरषत बान मनोज।**
> **कंबु-कंठ नाना मनि भूषन, उर मुकुता की माल।**
> **कनक-किंकिनी-नूपुर कलरव, कूजत बाल मराल।**
> **चौंकी-हेम चंद्र-मनि लागी, रतन जराइ खचाई।**
> **भुवन चतुर्दस की सुन्दरता, राधे मुखहि रचाई।**

सजल-मेघ घन स्यामल सुन्दर, बाम अंग अति सोहै।
रूप अनूप मनोहर मोहै, ता उपमा कवि को है।
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति, सुबस किए ब्रज धनी।
अखिल-लोक-लोकेस बिलोकत, सब लोकनि के गनी।
कबहुँक हरि सँग नृत्यति स्यामा, स्रमकन हैं राजत यौं।
मानहुँ अधर सुधा के कारन, ससि पूज्यौ मुक्ता सौं।
रमा, उमा अरु सची अरुंधति, दिन प्रति देखन आवैं।
निरखि कुसुमगन बरषत सुरगन, प्रेम मुदित जस गावैं।
रूप-रासि सुख-रासि राधिके, सील महा गुन रासी।
कृष्न चरन ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरन उपासी।
जग-नायक जगदीस पियारी जगत-जननि जग-रानी।
नित बिहार गोपाल लाल सँग, वृन्दावन रजधानी।
अगतिन की गति, भक्तनि की पति राधा मंगलदानी।
असरन-सरनी, भव-भय-हरनी बेद पुरान बखानी।
रसना एक नहीं सत कोटिक सोभा अमित अपार।
कृष्न भक्ति दीजे श्री राधे 'सूरदास' बलिहार ॥१६७३॥

राधा से कृष्ण-भक्ति की याचना में कवि ने राधा के भाव को ही अपनाने की आकांक्षा प्रकट की है। 'वार्ता' के अनुसार यही आकांक्षा उन्होंने अपने देहावसान के समय प्रकट की थी। जगत् में जो कुछ सुन्दर है, वह केवल कृष्ण के ही नाते से सुन्दर है, अन्यथा समस्त वस्तुएँ निःसार हैं। जिस स्त्री-सौंदर्य का कृष्ण के नाते सूरदास ऐसा आकर्षक वर्णन करते हैं उसे वे अन्यथा सबसे भयंकर शत्रु मानते हैं।

प्राकृतिक सौंदर्य

मानव-सौंदर्य के साथ प्राकृतिक सौंदर्य के संबंध में भी सूरदास का यही भाव है। उनकी पैनी दृष्टि विस्तृत जगत् की रंगस्थली से असंख्य सुन्दर पदार्थ ढूँढ़ लाती है, किन्तु उनका सौन्दर्य एकमात्र कृष्ण के संबंध से सार्थक होता है। प्रकृति चाहे उपमान बन कर आए, चाहे चित्रों की पृष्ठ-भूमि के निर्माण में उसका उपयोग हो, उसका अवलोकन सूरदास कृष्ण-प्रेम से रंजित दृष्टि द्वारा ही कर सकते हैं। प्रभात इसलिए सुन्दर है कि उस बेला में श्रीकृष्ण जागते हैं। प्रभात में विकसित होते हुए कमल श्रीकृष्ण के अर्धोन्मीलित नेत्रों का सुखद स्मरण दिलाते हैं, कलरव करते हुए खगवृन्द कृष्ण की विरुदावली-सी गाते हुए जान पड़ते हैं, विकसित कमलों पर मँडराते हुए गुंजायमान भ्रमरों के झुण्ड कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त, उनका गुणगान करने वाले सेवकों जैसे लगते हैं। जिस प्रकार अरुण उदय हो कर अंधकार को विदीर्ण कर देता है, उसी प्रकार कृष्ण के जागने से समस्त दुःख-दैन्य, द्वन्द्व-भ्रम, मत्सर-मद दूर हो जाते हैं और चारों ओर आनन्द का प्रकाश हो जाता है।

जिस वातावरण में श्रीकृष्ण रस-केलि करते हैं उसकी प्राकृतिक शोभा अप्रतिम है। उनकी सामूहिक रस-लीला का उत्कृष्ट रूप रास और वसन्त के विहारों में प्रकट हुआ है। कवि ने अपने हृदय के आनन्द-उत्साह, गोपियों के उच्छल उल्लास और श्रीकृष्ण के परमानंद रसेश्वर रूप के साथ बाह्य प्रकृति को भी अपार उमंग से उत्फुल्ल चित्रित किया है। उस वसन्त काल में जब श्रीकृष्ण गोपियों के साथ फाग क्रीड़ा करते हैं, प्रकृति की शोभा देखते ही बनती है; मानो वह

भी चेतन हो कर उस अखंड आनन्द का अनुभव कर रही हो, मानो वह भी प्रेमोन्माद में नृत्य कर रही हो। वसन्त का एक छोटा-सा चित्र है, जिसमें बाह्य रूप-सौंदर्य से अधिक कवि ने आंतरिक उल्लास की व्यंजना की है—

> **कोकिल बोली बन बन फूले, मधुप गुंजारन लागे।**
> **सुनि भयौ भोर रोर बंदिन कौ, मदन महीपति जागे।**
> **ते दूने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहले दव दागे।**
> **मानहुँ रतिपति रीझि जाचकनि बरन-बरन दए बागे।**
> **नईं प्रीति, नई लता. पुहुप नए, नयन नए रस पागे।**
> **नए नेह नव नागरि हरषित, 'सूर' सुरँग अनुरागे ॥३४६६॥**

प्रत्येक ऋतु में अपना-अपना आकर्षण होता है, किन्तु ऋतुराज वसन्त के बाद वर्षा और शरद् ऋतुओं की शोभा विशेष रूप से लुभावनी होती है। सूरदास ने वर्षा ऋतु में भी हिंडोल-लीला का वर्णन कर के रसेश्वर कृष्ण का आनन्दोल्लास चित्रित किया है। हिंडोल-लीला की प्राकृतिक पृष्ठभूमि सूरदास की चित्र-कला से अधिक उनकी उमंग व्यंजित करती है—

> **....बन बननि कोकिल कंठ निरखति, करत दादुर सोर।**
> **घन घटा कारी, स्वेत बग पंगति निरखि नभ ओर।**
> **तैसीयै दमकति दामिनी, तैसोई अंबर घोर।**
> **तैसोइ रटत पपीहरा, तैसोइ बोलत मोर।**
> **तैसीयै हरियरि भूमि बिलसति, होत नहिं रुचि थोरि।**

तैसीपै नन्हीं बूंद बरषति झमकि झमकि झकोरि।

तैसीयै भरि सरिता सरोवर, उमँगि चली मिति फोरि।

ऐसे प्राकृतिक वातावरण में गोपियों ने भी उपयुक्त रंगों के आकर्षक वस्त्राभूषणों से शृंगार किया है—

सब पहिरि चुनि-चुनि चीर, चुहि चुहि चूनरी बहु रंग।

कटि नील लहँगा, साल चोली, उबटि केसरि अंग।

नवसात सजि नई नागरी, चली झुंड-झुंडनि संग

मुख-स्याम-पूरन चंद कौं, मनु उमँगि उदधि तरंग।

इन्हीं गोपियों के संग श्याम केलि-कौतुक करते हैं—

झूलत, झुलावत कँठ लावत, बढ़ी आनँद बेलि।

कबहूँक रहसत, मचकि लै लै एक-एक सहेलि।

झकझोरि झमकति डरति प्यारी, पिया अंकम मेलि।

तिहि समय सकुचि मनोज तकि छबि जक्यौ धनु सर डारि।

किंतु सदा की भाँति कवि यहाँ भी बता देता है कि यह केलि-कौतुक साधारण मानवीय नहीं है, वरन् लोकातीत है, जिसे देख कर—

अंबर बिमाननि सुमन बरषत, हरषि सुर सँग नारि।

मोहे सुगन गन्धर्व किन्नर, रहे लोक बिसारि।....॥३४४८॥

संयोगावस्था में समस्त प्राकृतिक शोभा आनन्द-उल्लास की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। किंतु यही शोभा-सौंदर्य वियोग के समय विषादमय बन जाता है। वर्षा ऋतु आ गई किंतु श्याम नहीं हैं जो वर्षा का सुख भोगा जा सके। प्रकृति ने सुन्दर वेश धारण किया है, किंतु गोपियों के हृदय से उसका सामंजस्य नहीं हो पाता। कृष्ण का

स्मरण उन्हें अत्यन्त व्यथित करता है—

बरन बरन अनेक जलधर, अति मनोहर वेष।
तिहिं समय सखि गगन सोभा, सबहि तैं सुविशेष।
उड़त खग बग वृन्द राजत, रटत चातक मोर।
बहुत बिधि चित रुचि बढ़ावत, दामिनी घनघोर।
धरनि तन तृन रोम पुलकित, पिय समागम जानि।
द्रुमनि बर बल्ली बियोगिनि, मिलतिं पति पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुंज नाना नाद।
मुदित मंडल-मेघ बरषत, गत बिहंग विषाद।
कुटज, कुंद, कदंब, कोबिद, करनिकार, सुकंजु।
केतकी, करबीर बेला बिमल बहु बिधि मंजु।
सघन दल, कलिका अलंकृत, सुमन सुकृत सुबास।
निकट नैन निहारि माधौ, बन मिलन की आस।

गोपियाँ प्रकृति की शोभा में कृष्ण के अंग-अंग के मनोहर उपमान देख कर अत्यन्त दुखित होती हैं। मिलन की उत्कंठा उस समय और तीव्र हो जाती है जब वे देखती हैं कि—

मनुज, मृग, पसु, पंछि परिमित और अमित जु नाम।
सुमिरि देस बिदेस परिहरि, सकल आवहिं धाम।

किंतु उनकी समझ में नहीं आता कि श्याम ने ब्रज-वास क्यों बिसार दिया। वे इतने निकट रहते हुए भी क्यों नहीं आ सकते। इस प्राकृतिक सौंदर्य के वातावरण में वे स्वभावतः कृष्ण के रूप-सौंदर्य का ध्यान करने लगती हैं—

परम सुहृद सुजान सुन्दर, ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुंडल, डोल ललित प्रकास।
बेनु कर बहु विधि बनावत, गोप सिसु चहुँ पास।
सुदिन कब जब आँखि देखैं, बहुरि बाल बिलास।
बार-बार सु बिरहिनी अति बिरह व्याकुल होतिं।....॥३६३२॥

कभी-कभी गोपियों को श्यामल बादलों में घनश्याम की छबि दिखाई देने लगती है और उन्हें विषादपूर्ण क्षणिक सुख का अनुभव होता है, किन्तु इससे वियोग की विकलता बढ़ हो जाती है—

इंद्र धनुष मनु पीत बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवन चित्त निहारि।
गरजत गगन गिरा गोबिंद मनु, सुनत नयन भरे बारि।
'सूरदास' गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं ब्रजनारि॥३९६३॥

वर्षा ऋतु का यह दृश्य जितना शोभादायक है उतना ही विषाद-जनक भी। सावन की घटाएँ घुमड़ रही हैं। चारों ओर जल ही जल दिखाई देता है। अब तो आने जाने के मार्ग भी मिट गए। श्याम के आने की संभावना और भी कम हो गई। किंतु ये भयंकर बादल तो ऐसे कुपित हो रहे हैं, मानो अब इन्हें किसी का डर ही न रहा हो। गरज-गरज कर बरसते हैं, मानो इन्द्र ने ब्रज को अरक्षित जान कर बदला लेने का निश्चय किया है। उधर बाहर ब्रज पर इन्द्र की मेघ-सेना का आक्रमण हो रहा है, इधर गोपियों का शरीर मानो वर्षामय हो गया है। वर्षा का प्रत्येक दृश्य उनके अंग-अंग में उदय हो कर उन्हें विकल कर रहा है—

नैन जलद, निमेष दामिनि, आँसु बरसत धार।
दरस रवि ससि दुरचौ धीरज, स्वास पवन अकार।
उरज गिरि मैं भरत भारी, असम काम अपार।
गरज बिकल बियोग बानौ, रहति अवधि अधार ...॥३९४०॥

गोपियों को वर्षा के उपकरणों में सम्भवतः सबसे अधिक मोर दुखी करते है। चारों दिशाओं में बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं और बाण की तरह बूँदें बरसती हैं। उस पर ये मोर बोल-बोल कर हृदय को जलाते हैं। इन्हें हमसे क्यों वैर हो गया, जो ये बरजने से भी नहीं मानते? क्या कोई इन्हें मना नहीं कर सकता?—

कोउ माई बरजै री इन मोरनि।
टेरत बिरइ रह्यौ न परै छिन, सुनि दुख होत करोरनि।....॥३९४८

दिन में मोर बोलते हैं और रात में पपीहा। गोपियों को कभी चैन नहीं मिलता। वर्षा की व्याकुलता बढ़ती ही जाती है—

बहुरि पपीहा बौल्यौ माई।
नींद गई चिंता चित बाढ़ी, सुरति स्याम की आई।
सावन मास मेघ की बरषा, हौं उठि आँगन आई।
चहुँ दिसि गगन दामिनी, कौंधति तिहिं जिय अधिक डराई।
काहुँ राग मलार अलाप्यौ, मुरलि मधुर सुर गाई।
'सूरदास' बिरहिनि भइ व्याकुल, धरनि परी मुरझाई॥३९५०॥

किंतु पपीहा विरहिनी गोपियों को जितना व्यथित करता है उससे अधिक उन्हें उससे सान्त्वना भी मिलती है। पपीहा के रूप में वे अपने सहधर्मी का दर्शन करती हैं। वह भी तो अत्यन्त करुण स्वर में प्रियतम

को पुकारता रहता है। गोपियों की हार्दिक भावना की पपीहा की पीड़ा के साथ अद्भुत समानता है। इसी से वे कहती हैं—

सखी री चातक मोहिं जियावत।

जैसेंहि रैनि रटति हौं पिय-पिय, तैसेहिं वह पुनि गावत।

अतिहिं सुकंठ, दाह प्रीतम कैं, तारू जीभ न लावत।

आपुन पियत सुधारस अमृत, बोलि बिरहिनी प्यावत।

यह पंछी जु सहाय न होतौ, प्रान महा दुख पावत।

जीवन सुफल, 'सूर' ताही कौ, काज पराए आवत॥३९५२॥

प्रकृति का यह भावात्मक प्रयोग ही जिसमें प्रकृति के पदार्थों में मानवीय भावों की अनुरूपता या प्रतिकूलता का दर्शन किया जाता है, मध्य-युग के भक्त कवियों के लिए सम्भव था क्योंकि वे बाह्य जगत् के साथ यदि कोई आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे तो केवल अपने इष्ट-देव के माध्यम से। विविध अलकारों में उपमानों के रूप में प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग भी इसी प्रकार से भाव के आश्रित है। सूरदास ने कृष्ण के रूप, उनकी विविध क्रीड़ाओं और उनके सम्बन्ध में गोपी, गोप आदि के भावों को चित्रित करने के लिए प्रकृति के विस्तृत प्रांगण से असंख्य सुन्दर-असुन्दर पदार्थों को खोज-खोजकर एकत्र किया है और इस प्रकार अपनी विस्तृत पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु वास्तव में प्रकृति के इस प्रयोग में भी कवि की अन्तर्दृष्टि ही अधिक दिखाई देती है। उसके प्राकृतिक उपमान—परम्परामुक्त और मौलिक, सभी—भावाश्रित हैं। 'सूरसागर' में कुछ थोड़े से विषय-प्रधान प्रकृति-चित्र भी मिलते हैं, किन्तु वस्तुतः हैं वे भी किसी न किसी रूप में में भाव

के उद्दीपन के लिए ही। उदाहरण के लिए दावानल का एक चित्र है—

....पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार, फुटत फर, झपटत लपट कराल।
धूम धूँधि बाढ़ी धर अंबर, चमकत बिच-बिच ज्वाल।
हरिन, बराह, मोर, चातक, पिक, जरत जीव बेहाल।

वन में अग्नि-संहार का यह चित्रोपम वर्णन कवि के प्रत्यक्ष दर्शन और चित्रांकन-कौशल का परिचय देता है। किन्तु इस चित्रांकन का उद्देश्य चित्रांकन नहीं, अपितु गोप-सखाओं के मन के भय एवं आतंक तथा उनसे श्रीकृष्ण द्वारा उनकी रक्षा का वर्णन करके विस्मय की व्यंजना करना है। प्रारम्भ में—

अब कैं राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि उपजी है इहिं काल।

तथा अंत में—

जनि जिय डरहु, नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नँदलाल।
'सूर' अगिनि सब बदन समानी, अभय किए ब्रज-बाल॥१२३३॥

कह कर इस दृश्य-चित्रण का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया है। इसी प्रकार गोवर्धन-धारण लीला में 'भय' के उद्दीपन के लिए जल-वर्षण का चित्रोपम वर्णन किया गया है।

....ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल,
चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भए नंद, सब महर चक्रित भए,
चकित नरनारि हरि करत ख्याला।

घटा घनघोर घहरात, अररात,
दरात, थररात, ब्रज लोग डरपे।
तडित आघात तररात, उतपात सुनि,
नारि नर सकुचि तन प्रान अरपे....॥१४७३॥

तथा—

बादर बहु उमड़ि घुमड़ि, बरषत ब्रज आए चढ़ि,
कारे धौरे धूमरे, धारे अति हीं जल।
चपला अति चमचमाति, ब्रज-जन सब अति डरात,
टेरत सिसु पिता-मात ब्रज में भयौ गलबल।
गरजत धुनि प्रयल काल, गोकुल भयौ अंधकाल,
चकित भए ग्वाल बाल, घहरत नभ हलचल....॥१४७५॥

मानव-रूप-सौंदर्य और प्राकृतिक दृश्य-सौंदर्य के उपर्युक्त विवेचन और उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास में सृष्टि के रूपों, रंगों, क्रिया-कलापों आदि को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की अद्भुत क्षमता है तथा उनकी सौन्दर्यांकन की रुचि अत्यन्त परिष्कृत और सुसंकृत है। राधा-कृष्ण के वस्त्राभूषण के वर्णन में उन्होंने सदैव रंग-सामंजस्य और संतुलन का ध्यान रखा है। किंतु अंत में यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कभी-कभी सूरदास की सौन्दर्य-कल्पना भी अलंकार के भार से आक्रांत तथा परंपराभुक्त उपमानों में विलीन-सी हो जाती है। कहीं-कहीं वे उपमानों के साथ खिलवाड़ करते हुए देखे जाते हैं तथा कुछ पदों में उनकी सौन्दर्याभिरुचि के विषय में संदेह-सा होने लगता है। सूरदास ने गोपियों की विरह-व्यथा के वर्णन में

शरद् ऋतु के चन्द्रमा की शीतलता की दाहकता का अनेक प्रकार से वर्णन किया है जिसमें उनकी कल्पना-शक्ति और चित्रण-शक्ति की अद्भुत प्रतिभा प्रकट हुई है। किंतु इस सम्बन्ध में कुछ ऐसी भी उक्तियाँ हैं जिनमें गोपियाँ बालकों जैसे कौतुक करती हुई दिखाई गई हैं। उदाहरणार्थ—

सखि, कर धनु लै चंदहिं मारि।
तब तो पैं कछुवै न सिरैहै जब अति जुर जैहै तनु जारि।
उठि हरुवाइ जाइ मंदिर चढ़ि, ससि सनमुख दरपन बिस्तारि।
ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर मैं, अति बल खंड-खंड करि डारि....।।३९७१।।

दर्पण में चन्द्रमा के प्रतिबिंब को खण्ड-खण्ड करके चन्द्रमा के द्वारा उत्पन्न ज्वर की ज्वाला से बचने का उपाय पाना में चन्द्रमा के प्रतिबिंब को दिखा कर कृष्ण को बहलाने के समान है। किन्तु वास्तविक यह है कि सूरदास की गोपियाँ इतनी अधिक भावप्रवण हैं कि कभी-कभी उनके विवेक का लोप-सा हो जाता है।

वस्तु-सौंदर्य के साथ-साथ जिसका ऊपर रूप और दृश्य-चित्रण में विवेचन किया गया है, श्रीकृष्ण के क्रिया-कलाप के चित्रण का भी उद्देश्य केवल मनोमोहकता और सौन्दर्य की सृष्टि करना ही है। इसी कारण कृष्ण के क्रिया-कलाप को लीला कहा गया है और विवेचकों ने इस लीला के संबन्ध में स्पष्ट कहा है कि इसका एकमात्र प्रयोजन स्वतः लीला ही है, इसमें कुछ भी अवान्तर लक्ष्य नहीं है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इसका उद्देश्य सौंदर्य-भावना के अतिरिक्त किसी अन्य भावना को

लीला-सौंदर्य

जगाना नहीं है। यहाँ तक कि कृष्ण के संहार-कार्य भी उनकी कोमलता, मधुरता और सुकुमारता से असंबद्ध नहीं हैं, उनमें विस्मय की व्यंजना ही प्रधान है। वे जो कुछ करते हैं वह सब केलि-कौतुक से अधिक कुछ नहीं है। खेल-खेल में ही वे समस्त ब्रह्मांड को प्रकंपित कर देते हैं। उनके पैर का अँगूठा चूसने जैसी शिशु-सुलभ क्रीड़ा से—

....उछरत सिंधु धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ।
सेस सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।
बढ़्यौ बृच्छ बट, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महाप्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात....॥६८२॥

इसी प्रकार कृष्ण के खेल-खेल में दधि-मथनी पकड़ने से वासुकी, भू, मंदराचल और सिंधु कम्पित हो जाते हैं, उन्हें आशंका होने लगती कि है कहीं पुनः समुद्र-मंथन न होने लगे और प्रलय हो जाय। सुर और असुर इसी सोच में पड़ कर दुखी हो जाते हैं। किंतु कृष्ण की यह लीला यशोदा के लिए ललित और मनोमोहक ही है—

'सूरदास' मन मुग्ध जसोदा मुख दधि-बिंदु परै॥७६०॥

कालिय-दमन जैसे भयंकर कार्य में भी सूरदास ने लालित्य और माधुर्य की व्यंजना की है—

अति कोमल तनु धर्‌यौ कन्हाई।
गए तहाँ जहाँ कालो सोवत, उरग नारि देखत अकुलाई।
कह्यौ कौन कौ बालक है तू, बार-बार कही, भागि न जाई।
छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई।
उरग नारि की बानी सुनि कै, आपु हँसे मन मैं मुसुकाई।

मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहि जगाई।
कहा कंस दिखरावत इनकौं, एक फूँक हो में जरि जाई।
पुनि-पुनि कहत 'सूर' के प्रभु कौं, तू अब काहे न जाइ पराई ॥११६८॥

उरग नारियों को कृष्ण का कोमल सुकुमार रूप देख कर दया आती है, कहीं ऐसा न हो कि कालिय-नाग जाग कर उसे भस्म कर दे। वे कहती हैं—

तोहि देखे मया मोहिं अतिहीं भई, कौन को सुवन तू कहाँ आयौ।
मरौ वह कंस, निरबंस वाकौ होइ कर्‌यौ यह गंस तोकौ पठायौ।

इस पर कृष्ण बड़े गर्व से कहते हैं—

कंस कौ मारिहौं, धरनि निरबारिहौं अमर उद्धारिहौं, उरग-घरनी।

किंतु नागिनों को इस बात पर कब विश्वास हो सकता है!—

'सूर' प्रभु के बचन सुनत, उरगिनि कह्यौ,
जाहि अब क्यों न, मति भई मरनी ॥११६९॥

और, जब कृष्ण कालिय नाग की पूँछ पर लात मार कर उसे जगा देते हैं, तब वह पहले तो किसी आशंका से भयभीत होता है, किंतु जब अपने सामने एक बालक को देखता है, तो उसे उसके साहस पर आश्चर्य होने लगता है। कृष्ण कालिय के साथ खेलने लगते हैं, वे झटक कर पूँछ पकड़ लेते हैं और उसे पृथ्वी पर पटक देते हैं। साँप उनके हाथ में लटका हुआ फुंकारता है और वे उसकी पूँछ पकड़े रहते हैं—

पूँछ राखी चाँपि, रिसनि काली काँपि, देखि सब साँपि, अवसान भूले।

करत फन-घात, बिष जात उतरात अति, नीर जरि जात, नहिं गात परसै।
'सूर' के स्याम, प्रभु लोक अभिराम, बिनु जान अहिराज बिष ज्वाल बरसै ॥११०७॥

सूर के कृष्ण प्रत्येक परिस्थिति में लोक-अभिराम ही हैं। चाहे वे माखन चुरा कर गोपियों को चकित करें, चाहे चीर हरण कर उनका गर्व मिटाएँ, चाहे राधा के साथ केलि-क्रीड़ा कर उन्हें आनन्दित करें, चाहे दान माँग कर गोपियों को डराएँ, धमकाएँ और अंत में प्रेम की पीर से व्याकुल बनाएँ, चाहे रास-क्रीड़ा में नृत्य, संगीत, जल-केलि आदि का सुख-विनोद करें अथवा कंस तथा उसके सहायक भयानक असुरों और मल्लों को बात की बात में पछाड़ दें—उनकी प्रत्येक गति-विधि, प्रत्येक चेष्टा कोमल भावनाओं को ही जगाती है। क्रोध, आवेश, भय, घृणा जैसे भाव तो उन्हें कभी व्यापते ही नहीं। वे सदैव हँसते, खेलते और आनन्द मनाते ही देखे जाते हैं। कंस की नगरी में भी उनके सभी कार्य ललित और विनोदपूर्ण हैं—

हँसत हँसत स्याम **प्रबल, कुबलया संहार्यौ।**
तुरत दंत लिए उपारि, कंधनि पर चले धारि, **निरखत** नर-नारि मुदित **चक्रित गज मार्यौ।**
अति हीं कोमल अजान, **सुनत नृपति जिय सकान, तनु बिनु जनु भयौ प्रान मल्लनि पै आए।**
हँसि बोले **स्याम राम, कहा सुनत रहे नाम,** खेलन कौं हमहिं काम **बालक सँग डोलैं ॥३६८२॥**

कंस का संहार भी उनके लिए एक विनोद और कौतुक ही है।

कंस-निकंदन और गोपी-मोहन रूप में बिलकुल अन्तर नहीं है—वही श्याम कोमल शरीर, वही नटवर वेश और मृदुल शृंगार—

नवल नंद-नंदन रंग भूमि राजैं।
स्याम तन, पीत पट मनौ घन मैं तड़ित, मोर के पंख माथैं बिराजैं।
स्रवन कुण्डल झलक मनौ चपला चमक, दृग अरुन कमल दल से बिसाला।
भौंह सुन्दर धनुष, बान सम सिर तिलक, केस कुंचित सोह भृंगमाला।
हृदय बनमाल, नूपुर चरन लाल, चलत गज चाल, अति बुधि बिराजैं।
हंस मनौ मानसर अरुन अंबुज सुभर निरखि आनंद करि हरषि गाजैं।
कुवलया मारि चानूर मुष्टिक पटकि, बीर दोउ कंध गजदंत धारे।
जाइ पहुँचे तहाँ कंस बैठ्यौ जहाँ, गए अवसान प्रभु के निहारे।
ढाल तलवारि आगैं धरी रहि गई, महल कौ पंथ खोजत न पावत।
लात कैं लगत सिर तैं गयौ मुकुट गिरि, केस गहि लै चले हरि खसावत।
॥३६६६॥

कृष्ण के अतिरिक्त उनकी लीला के अन्य व्यक्ति भी उनके अनुरूप कोमलता, मधुरता, मसृणता और स्निग्धता से ही अनुप्राणित हैं। विरोधी व्यक्तियों में भी सूरदास ने प्रखरता, कठोरता, परुषता और क्रूरता की व्यंजना नहीं की है। अधिक से अधिक वे भय, आशंका और आंतक से अभिभूत दिखाए गए हैं और उनके ये भाव शीघ्र ही भक्ति-भावना में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार कृष्ण-लीला का संपूर्ण वातावरण सौंदर्य और माधुर्य से ओत-प्रोत है।

गोपाल कृष्ण के इस मधुर चरित के चित्रण में सूरदास ने अनुपम कलात्मक अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। पीछे संकेत किया जा

चुका है कि ब्रजवल्लभ कृष्ण का चरित किसी
कला—संगीति-तत्त्व महिमा-मंडित महाकाव्य का विषय नहीं हो सकता।
महाकाव्य के लिए चरित की जिस गौरव-गरिमा, घटनाओं की जिस सामाजिक महत्ता एवं वैचित्र्य-विविधता तथा कवि के जिस तटस्थ, निरपेक्ष दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है वह कृष्ण-लीला और उसके कवि सूरदास में नहीं है। मध्ययुग के भक्त कवि जिस एकनिष्ठ भक्ति-भावना से प्रेरित हो कर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे, वह स्वयं प्रबंध काव्य के लिए अनुपयुक्त है। वर्ण्य-विषय के प्रति वह वैयक्तिक आत्मनिष्ठता गीतिकाव्य के माध्यम से ही व्यक्त हो सकती है। दूसरे, जैसा हम देख चुके हैं कृष्ण-लीला स्वयं गीतिकाव्य का ही प्रकृत विषय है, अतः सूर का काव्य अनिवार्यतः गीतिकाव्य है। सूर के भक्ति-भाव में वह अनन्य, एकांत, गंभीर और तीव्र निष्ठा है, जो एक श्रेष्ठ गीतिकार की प्रकृति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। सूरदास ने अपने विनय के पदों में अत्यन्त आत्मीयता के साथ अपने व्यक्तिगत भावों का निवेदन किया है। किंतु इन पदों में जहाँ एक ओर अनुभूति की गहराई और तीव्रता तथा अभिव्यक्ति की निश्छलता और आडंबरहीनता है, वहाँ दूसरी ओर कवि का भाव-लोक पाप-वासना की एक व्यापक अनुभूति तथा संसार की असारता के एक गंभीर प्रभाव से आक्रांत भी है। वह अपनी कोमल और मधुर भावनाओं को सौंदर्य-सिक्त करके व्यक्त करने का अवसर ही नहीं पाता। वह अवसर कृष्ण के रूप-लावण्य और लीला-माधुर्य के परिचय के बाद ही प्राप्त हो पाता है। कवि बड़ी तन्मयता से कभी नन्द-यशोदा

कभी गोकुल के सामान्य नर-नारियों, कभी गोप बालकों, कभी किशोरी, नवोढ़ा और युवती गोपियों और कभी अपने आराध्य की अनन्य प्रिया राधा को अपनी सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि, अपनी अपार भाव-राशि और अपने सर्वात्म-समर्पण की उत्कट आकांक्षा समर्पित कर के अपने को भूल जाता है। अतः, यद्यपि सूरदास ने भिन्न माध्यमों के द्वारा भावाभिव्यक्ति की है, फिर भी उनके गीति-पदों में वह आत्मीय और वैयक्तिक दृष्टिकोण निरंतर विद्यमान् रहता है जो गीतिकाव्य का सब से प्रथम लक्षण माना जाता है।

सूर के प्रत्येक भाव-प्रधान गीति-पद में भाव की वह एकात्मकता और अनुभूति का वह संकलन है जो स्वतःपूर्ण, अविशृंखल और अप्रतिहत ढंग से मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। सूरदास किसी एक गीति-पद में चाहे रूप-चित्रण के बहाने किसी उद्दीपन की योजना कर रहे हों, चाहे किसी अनुभव का शब्द-चित्र उपस्थित कर रहे हों अथवा चाहे किन्हीं घटना-प्रसंगों के सहारे कुछ संचारियों को अंकित कर रहे हों, उनका मूल उद्देश्य किसी एक भाव-विशेष की व्यञ्जना करना ही होता है और वह व्यञ्जना अपने में इतनी परिपूर्ण तथा गहरी होती है कि उससे सहज ही अपेक्षित रसोद्रेक हो जाता है। अतः गीतिकाव्य की आकारगत विशेषता सूर के पदों में अधिकांशतः निरंतर सुरक्षित रही है। यह अवश्य है कि उनके कुछ वर्णनात्मक पद गीतिकाव्य की इस आवश्यक प्रकृति के विरुद्ध हैं। उनमें कवि की आत्मीयता भी उतने उत्कट रूप में व्यक्त नहीं हुई है। वस्तुतः वे भरती जैसे पद हैं। या तो संभवतः वे सूर-कृत ही नहीं हैं,

अथवा उनकी रचना कथा-पूर्ति के उद्देश्य से हुई है।

सूरदास की कल्पना अत्यन्त सशक्त और उनका सौंदर्य-कोश अत्यन्त संपन्न है, अतः उनकी अभिव्यक्ति में हमें सौंदर्य-विधानों की प्रचुरता, चित्रों की अतिशय अनुरंजकता तथा दृश्यांकन की संकुलता सहज ही मिल जाती है। फिर भी, ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमें हमें अनावश्यक अलंकरण की प्रवृत्ति तथा आडंबरपूर्ण कृत्रिमता दिखाई दे। उनके पदों में निष्कपट, स्वच्छंद और उन्मुक्त भावों का नैसर्गिक विकास उनके सरल, द्वंद्वहीन, प्रेम-प्रवण और संवेदनशील व्यक्तित्व का अत्यंत निकट से परिचय देता है।

कृष्ण-कथा और उसके पात्रों को गीतिकाव्य का विषय बनाने के कारण सूरदास के काव्य में साधारण व्यक्तिनिष्ठ गीतिकाव्य से कहीं अधिक भाव-विस्तार और विविधता आ गई है। यद्यपि यह कथा चिर परिचित है और इसमें व्यक्त भाव परम्पराभुक्त से जान पड़ते हैं, किंतु सूरदास ने अपनी अद्भुत भाव-संवेदना तथा कल्पना-शक्ति के द्वारा अधिकांश गीति-पदों में सहजोद्रेक और नवीन स्फूर्ति का संचार कर दिया है। राधा कृष्ण के प्रथम मिलन, प्रेम विकास की व्यञ्जना करने वाले आकस्मिक एवं प्रयत्न-साध्य गुप्त-मिलन तथा गोपियों के प्रेम-विलास संबंधी असंख्य रोमांसिक घटनाओं की उद्भावना करके सूरदास ने अत्यन्त स्वाभाविक, अकृत्रिम, स्वतःप्रवर्तित प्रेम का चित्रण कर अपने गीतिकाव्य में उसकी उपर्युक्त आवश्यक विशेषता को उत्कृष्ट रूप में समाविष्ट किया है। राधा और गोपियों का लोक लाज और कुल-धर्म की मर्यादा सम्बन्धी संकोच तथा प्रेम के

विवशतापूर्ण अनुरोध से उनका स्वाभाविक अतिक्रमण गीतिकाव्य के तत्त्वों को सुरक्षित रखने में सहायक हुआ है। प्रेम-निवेदन का प्राकृतिक आग्रह, किंतु उसका आवश्यक गोपन, प्रेम की उत्कट अनुभूति और उसकी उच्छल अभिव्यक्ति तथा प्रेम के आस्वाद की लोकोत्तर व्यापकता और उसकी अनिवर्चनीय गूढ़ता—गीति की ये विशेषताएँ सूरदास के पदों को एक अद्भुत सौंदर्य से समन्वित कर देती हैं।

सूरदास के गीतिपद अनिवार्यतः गेय हैं। वस्तुतः उनकी रचना जिस अनिवार्य हार्दिक प्रेरणा से हुई है वह मूलतः संगीतमय है। सौंदर्य और संगीत का अविच्छिन्न संबंध है। सौंदर्य की मूर्त और अमूर्त, सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में लय होती है। मूर्ति, चित्र, काव्य-कला की कोई कृति संगीत के मूलतत्त्व से रहित नहीं होती। अतः प्रेम की वह गंभीर अनुभूति जिसका आलंबन कृष्ण का अनिर्वचनीय सौंदर्य और माधुर्य है, निश्चय ही संगीतमय होगी। कृष्ण की पूजा-आराधना में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृष्ण के विग्रह (मूर्ति) की प्रत्येक दिनचर्या में संगीत का योग रहता है। पुष्टिमार्ग की सेवा-पद्धति में आठ समय की आरती के विधान के संबंध में समयानुसार भिन्न-भिन्न रागों का निर्देश किया गया है। प्रारम्भ से ही श्रीनाथजी से मंदिर में कीर्तनकार का महत्त्वपूर्ण पद रहा है। संभवतः यह पद सबसे पहले वल्लभाचार्य जी ने कुम्भनदास को दिया था, क्योंकि अष्टछाप के कवियों में सर्व प्रथम उन्हीं को आचार्य जी की दीक्षा मिली थी और जब सूरदास संप्रदाय में दीक्षित हुए तब यह सम्मानपूर्ण पद उन्हें मिला। अतः यह अनुमान कर

लिया गया है कि सूरदास की समस्त रचना श्रीनाथ जी के कीर्तनों के रूप में ही रची गई थी और 'सूरसागर' के समस्त पद अष्ट सेवा के अवसरों पर गाए गए पदों का संग्रह मात्र हैं। यद्यपि इस अनुमान का कोई पुष्ट आधार नहीं है, किंतु इतना अवश्य माना जा सकता है कि विभिन्न समयों की सेवा में सूरदास के पदों के गाए जाने की परिपाटी रही होगी। उनके समस्त पद किसी न किसी राग के अनुकूल गाए जाने की दृष्टि से रचे गए थे, इसकी पुष्टि प्रत्येक पद के साथ निर्दिष्ट राग-रागिनी के द्वारा हो जाती है। सूरदास के गीति-पदों की संगीतात्मकता और वाद्य यंत्रों की संगति में उनकी सुगेयता अतर्क्य है। वस्तुतः लोक-प्रचलित कृष्णाख्यान का माध्यम लोकगीत ही रहे हैं। सूरदास को निश्चय ही उनसे प्रेरणा मिली होगी, तभी तो हिंदी में कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी प्रथम कृति होते हुए भी उनकी रचना भाव, भाषा, संगीत और शैली की दृष्टि से इतनी प्रौढ़ है। भारतीय संगीत-परंपरा में भावपूर्ण भजनों की जो शास्त्रानुमोदित लोकप्रिय संगीत-शैली विकसित हो गई, उसका बहुत बड़ा श्रेय, संभवतः सबसे अधिक श्रेय, सूरदास को ही है। भजनों की सबसे अधिक संख्या कृष्ण-लीला से ही सम्बन्धित है। किन्तु इस दिशा में सूरदास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने काव्य और संगीत का अनुपम सामंजस्य कर दिया। भले ही उनकी रचना के बृहदाकार में अनेक ऐसे वर्णनात्मक और उपदेशात्मक लंबे पद मिलें जिनमें संगीत तत्त्व अत्यंत न्यून हों और जो संगीत की दृष्टि से सुगेय न हों, तो भी उनकी रचना का अधिकांश पूर्णतः संगीतमय है, उसका रसानंद

स्वर, ताल और शब्दार्थ-ध्वनि के सम्मिलित प्रभाव पर अवलंबित है। कृष्ण-कथा सम्बन्धी वर्णनात्मक कथा-प्रसंगों को भी जो सूरदास ने गीति-पदों की शैली में ही रचा, वह इस बात का प्रमाण है कि उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा उनके काव्य की प्रकृति निश्चय ही संगीतात्मक है।

गीतिकाव्य के समस्त आवश्यक लक्षणों से युक्त होते हुए सूरदास के गीति-पदों की कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं, जो उन्हें गीतिकाव्य में अपूर्व स्थान का अधिकारी बनाती हैं। इस प्रकार की पहली विशेषता का ऊपर संकेत किया गया है। किसी साधारण कवि की व्यक्तिगत आत्मनिष्ठ भावानुभूति में इतना भाव-विस्तार और ऐसी विविधता किसी प्रकार संभव नहीं है, जैसी हमें सूरदास में मिलती है। उन्होंने कृष्ण-लीला के विविध भावसम्पन्न पात्रों में अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को लीन कर अपने भाव-जगत् को अनुपम विस्तार दे दिया है। इसी विशेषता के कारण उनके गीतिकाव्य में तन्मयतामूलक वैयक्तिक आत्मानुभूति के साथ विषयगत प्रेषणीयता की स्वाभाविकता भी सुरक्षित रही है। जिस प्रकार सूरदास यशोदा, गोपी, राधा आदि के भाव में डूब कर अपने व्यक्तित्व को उनके साथ एकाकार कर देते हैं, उसी प्रकार सहृदय पाठक या श्रोता भी बिना प्रयास उनके साथ आत्मीयता अनुभव करने लगते हैं। सूर के काव्य का साधारणीकरण भावगत ही नहीं, विषयगत भी होता है, क्योंकि उसके नायक लोकाभिराम और चिरपरिचित हैं। किंतु सूर के गीति-पदों की संभवतः सबसे अधिक विलक्षण विशेषता यह है कि

उनमें स्वानुभूतिमूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्ण-लीला के अनेक प्रसंगों को क्रमबद्ध कथारूप में रचा गया है। सूर ने कृष्ण की अनेक लीलाएँ गीति-शैली के प्रबंधों में रचीं, जिन्हें खंडकाव्य कहा जा सकता है तथा उनके 'सूरसागर' में ब्रजवल्लभ कृष्ण की संपूर्ण कथा पदों में प्रस्तुत की गई है। किंतु उनके गीतिकाव्य की विशेषताओं को न तो संपूर्ण काव्य की कथात्मकता के द्वारा किसी प्रकार की क्षति पहुँची है और न खंडकाव्यों जैसे लीला प्रसंगों की प्रबंधात्मकता के द्वारा। सूर के काव्य में प्रबंध और गीति के परस्पर विरोधी लक्षणों वाले काव्य-रूपों के अनेक तत्त्व एकाकार हो गए हैं।

अस्तु, सूर-काव्य के गीति-तत्त्वों की विवेचना के बाद उसकी प्रबंधात्मकता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। हम पीछे कह चुके हैं कि सूरदास के गोपाल कृष्ण की प्रकृति किसी महा काव्य की प्रबंधात्मकता के अनुकूल नहीं है। सूरदास को द्वारकाधिपति महाराज श्रीकृष्ण के संबंध में तनिक भी रुचि नहीं है। वे तो केवल भाव का वर्णन-चित्रण करते हैं, अतः द्वारकाधीश के चरित का रुक्मिणी-परिणय सम्बन्धी अंश ही उनका ध्यान आकर्षित कर सका, क्योंकि उसमें उन्हें माधुर्य और दैन्य का अद्भुत मिश्रण करने का अवसर मिला। सुदामा-चरित्र में भी उन्हें अपनी भक्ति-भावना के एक मूल भाव—दैन्य के प्रकाशन की सुविधा थी, अतः उसे भी उन्होंने एक प्रबंध के रूप में रच दिया। द्वारका-प्रवासी कृष्ण में भी वे अपने प्रिय गोपाल कृष्ण के मधुर भाव को ढूँढ़ने की प्रतीक्षा करते देखे जाते हैं, और

प्रबंधात्मकता

जब उन्हें कुरुक्षेत्र में कृष्ण-व्रजवासी सम्मिलन के वर्णन का अवसर मिलता है, तब उनका भाव-संकुल हृदय किंचित् संतोष प्राप्त करता है। कृष्ण की कथा का यह उत्तर अंश है जिसमें कृष्ण का चरित्र सामाजिक उत्तरदायित्व से पूर्ण महिमाशाली राजा का चरित है। किन्तु सूरदास उनकी लीला के पूर्वांश में ही अपना मन रमाते हैं।

अतः, सूरदास ने गोकुल में प्रकट होने से आरंभ कर के उन की मथुरा-प्रवास तक की कथा बड़े विस्तार के साथ गाई है। इस कथा में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों के सम्यक् विकास की दृष्टि से एक पूर्वापर प्रसंग-गर्भत्व और एकसूत्र प्रबंधात्मकता तथा साथ ही कृष्ण की संपूर्ण व्रज-लीला का एक सामान्य कथा रूप 'सूरसागर' के किसी गंभीर पाठक की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। शिशु कृष्ण द्वारा पूतना, कागासुर और शकटासुर का संहार महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं, किन्तु सूरदास ने इनका प्रयोग कृष्ण के परम देवत्त्व की सूचना के साथ-साथ वात्सल्य भाव की दृढ़ता के लिए किया है। इन घटनाओं से अधिक तन्मयता उन्होंने कृष्ण के सोने, जागने, पालने में झूलने, घुटनों चलने, पैरों से चलना सीखने, नाचने, तुतला कर बोलने, खेलने-कूदने आदि के क्रमिक वर्णन में दिखाई है। कृष्ण के नाम-करण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ और कनछेदन आदि संस्कारों और चंद्र-प्रस्ताव, कलेवा, उलूखन-बंधन, गोचरण, धेनु-दोहन, राधा के साथ बाल-केलि आदि भावव्यंजक प्रसंगों के वर्णन द्वारा सूरदास ने कृष्ण के बड़े होने का क्रम-व्यवस्थित चित्र उपस्थित किया है। बड़े हो कर कृष्ण सखाओं के साथ भाँति-भाँति के खेल खेलते हैं; वक,

अघ, धेनुक, प्रलंब, कालिय नाग, दावानल आदि के वध और दमन संबंधी आश्चर्यजनक कार्य करते हैं; ब्रह्मा और इंद्र तक के गर्व का खंडन कर अपने माहात्म्य की सूचना देते हैं; किन्तु इससे भी अधिक वे अपने अनेक क्रीड़ा-कौतुक द्वारा वात्सल्य और सख्य भावों की दृढ़ता संपन्न कराते हैं। साथ ही, शिशु और बाल रूप में ही वे गोपियों के माधुर्य भाव को भी उद्दीप्त करने लगते हैं। माखन-चोरी, चीर-हरण, पनघट-प्रस्ताव, दानलीला, यमुना-विहार, मुरली-वादन, रास, जल-क्रीड़ा, खंडिता-समय, हिंडोल, वसंत और फाग आदि लीलाओं में कृष्ण-गोपी-संयोग सुखों के क्रमिक विकासशील माधुर्य भाव के साथ कृष्ण-कथा के विकास का भी वर्णन किया गया है। राधा और कृष्ण के आदर्श माधुर्य भाव को भी सूरदास ने शैशव के चकई-भौंरा खेलने से आरम्भ कर के उन के खरिक, यमुना तट आदि स्थानों पर प्रेम-मिलन और बाल-केलि, सर्पदंशन के और गारुड़ी के चतुरतापूर्ण सफल अभिनय, माखन-चोरी आदि लीलाओं में बाल-केलि-समन्वित प्रेमोद्दीपक कौतुक, अनुराग-समय, अँखियाँ-समय आदि के प्रसंगों में प्रेम की विवशतामयी स्थिति तथा राधा-कृष्ण विवाह और मान-लीलाओं में प्रेम की चरम परिणति का वर्णन जिस क्रम और व्यवस्थित ढंग से किया गया है, उसमें कथा और भाव दोनों के विकास को क्षति पहुँचाए बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

भाव की चरम परिणति के बाद ही कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा के लिए प्रस्थान करते हैं। मथुरा की घटनाओं को कृष्ण की इस भावपूर्ण ललित कथा में एकरस खपाने के उद्देश्य से उसके वर्णन में

भी परुष और कठोर भावों की व्यंजना नहीं की गई। कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय ब्रजवासियों के वियोग-चित्रण में कथा का प्रवाह रुक-सा जाता है—ऐसा लगता है जैसे अनेक घटनाओं से समन्वित वात्सल्य, सख्य और माधुर्य की तीन प्रधान धाराओं की त्रिवेणी वियोग के इस महा समुद्र में मिल कर एकाकार हो गई है। किन्तु गोपाल कृष्ण की मधुर कथा विषाद में परिणत हो कर भी दुःखांत नहीं है, क्योंकि गोपी-उद्धव संवाद के रूप में सूरदास ने गोपियों और ब्रजवासियों के प्रेम-भाव की विजय घोषित की है। आगे कुरुक्षेत्र मिलन और उसके अन्तर्गत राधा-कृष्ण के कीट-भृंग की भाँति परम मिलन के रूप में पुनः प्रेम की महत्ता तथा कृष्ण-कथा की परम सुखांतता व्यंजित की गई है।

इस प्रकार, सूर के काव्य में बाह्य दृष्टि से देखने पर भले ही बिखरापन और कथा के एकात्मक विन्यास में स्थान-स्थान पर अवरोध, स्थिरता और व्यवधान से दिखाई दें, उसमें असंदिग्ध रूप में कथात्मक एवं भावात्मक एकसूत्रता मिलती है, और, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, उसके कथा-प्रसंगों के क्रम में परिवर्तन करना संभव नहीं है।

संपूर्ण कृष्ण-कथा की सामान्य एकसूत्रता के अंतर्गत सूरदास ने कृष्ण की कतिपय लीलाओं को विशिष्ट रूप में सुसंहत एकात्मक प्रबंध की भाँति रचा है। कभी-कभी इन लीलाओं की स्वतंत्र जैसी प्रबंधात्मता के कारण भी संपूर्ण कृष्ण-कथा की एकसूत्रता में बाधा जान पड़ने लगती है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ये समस्त लीलाएँ अपने में पूर्ण होते हुए भी संपूर्ण कथा की अंग-मात्र हैं, इन्हीं के द्वारा उसका

घटना-विकास और भाव-विकास संपन्न होता है, संपूर्ण कथा में समाहृत मान कर ही उनका वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। इन लीलाओं का क्रम इस प्रकार है—(१) उलूखल-बंधन और यमलार्जुन-उद्धार, (२) अघासुर-वध, (३) बाल-वत्स-हरण लीला, (४) राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन, (५) कालिय-दमन लीला, (६) राधा-कृष्ण मिलन, (७) चीरहरण लीला, (८) पनघट-प्रस्ताव, (९) यज्ञ-पत्नी लीला, (१०) गोवर्धन लीला, (११) दानलीला, (१२) रास-लीला, और राधा-कृष्ण विवाह, (१३) राधा का मान, (१४) पुनः राधा का मान, (१५) बड़ा मान, (१६) खंडिता-समय, (१७) हिंडोर-लीला का सुख, (१८) वसंत-लीला, (१९) भ्रमरगीत और (२०) कुरुक्षेत्र-मिलन। लीलाओं के इस क्रम से हम संपूर्ण कथा में उनके स्थान और भाव की दृष्टि से उन के महत्त्व का अनुमान कर सकते हैं। इनके "विवरणों की अविच्छिन्न शृंखला, घटना-प्रसंग के क्रमिक विकास—आरंभ, मध्य, चरम सीमा और पर्यवसान—तथा उनके अंतर्गत भाव-विशेष के संवेदनात्मक विकास ने उन्हें निश्चित और पृथक् व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। कृष्ण-चरित्र के बृहद् गीति प्रबंध की शृंखला की इन बड़ी-बड़ी कड़ियों को अलग-अलग देखने पर हमें सूरदास के कथा विन्यास और प्रबंध-पटुता का असंदिग्ध परिचय मिलता है।" इन गुणों के आधार पर हम इन कथा-प्रसंगों को खंडकाव्य कह सकते हैं। इन खंडकाव्यों का कथाधार चाहे भागवत हो, अथवा वे स्वयं सूरदास की कल्पना शक्ति की उपज हों, उनमें हमें कवि की उत्कृष्ट कला और

मौलिक काव्य-प्रतिभा का दर्शन होता है।

जब हम यह मान लेते हैं कि सूरदास के सम्मुख कृष्ण-लीला की एक बृहद् प्रबन्ध-कल्पना थी, तब यह स्वाभाविक हो जाता है कि उसमें प्रयुक्त विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण की भी समीक्षा की जाए। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि "प्रबन्ध-काव्यों के पात्रों के चरित्रों में कार्य-व्यापार और घटना-वैभिन्न्य के द्वारा जो विकास, संघर्ष और घात-प्रतिघात दिखाया जाता है उसकी सम्भावना कृष्ण-चरित में बिलकुल नहीं है।" कृष्ण-लीला के पात्रों का चरित-विकास वस्तुतः भावानुभूति का ही विकास है और इस दृष्टि से सभी पात्र कृष्ण पर पूर्ण रूप से निर्भर, सर्वथा कृष्णमय हैं; उनकी व्यक्ति-विविधता कृष्ण के व्यक्तित्व की भावा-लंबन-रूप विविधता पर ही आधारित है।

चरित्र-चित्रण

विगत अध्यायों में कृष्ण के विविध भावमय व्यक्तित्व तथा उनके सम्बन्ध में अनुभूत विभिन्न भावों का विश्लेषण किया जा चुका है। उनके व्यक्तित्व में मानव और अतिमानव का अद्भुत मिश्रण हुआ है। जहाँ एक ओर सूरदास ने उनमें विभिन्न परिस्थितियों के अंतर्गत यथातथ्य मानवीय गुणों का समावेश दिखाया है और उनके कार्यों के वर्णन में मनुष्य-प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है, वहाँ दूसरी ओर वे बार-बार उनकी मानवेतर और लोकोत्तर प्रकृति का संकेत करते गए हैं। उनके चरित्र का वास्तविक आकर्षण इस विल-क्षणता में ही है। मानवीय स्वाभाविकता के अंतर्गत भी श्रीकृष्ण एक ही अवस्था में सहसा बालसुलभ, वात्सल्यसम्मत भाव से किशोरसुलभ

माधुर्यव्यंजक भाव प्रकट कर के प्रायः चकित कर देते हैं। परंतु साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि नंद, यशोदा, गोप, गोपी आदि के साथ राग-रंग में आचूल मग्न कृष्ण निरन्तर वीतराग व्यंजित किए गए हैं। सूरदास ने उन्हें एक साथ ही काव्य के साधारण अर्थ में सफल नायक तथा आध्यात्मिक अर्थ में अलौकिक व्यक्ति—परब्रह्म चित्रित किया है, और इस प्रकार सूरदास के चरित-नायक में गीता के योगिराज कृष्ण की अनासक्ति का व्यावहारिक दर्शन होता है।

कृष्ण के अतिरिक्त अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भाव के अनुसार आदर्श रूप में हुआ है। राधा माधुर्य-भाव की आदर्श प्रतीक हैं। इस भाव के अंतर्गत सूरदास ने उनमें अतीव स्वाभाविकता का समावेश किया है। संयोग के समय वे शरीर और मन दोनों से सौन्दर्य, कांति और उल्लास की एकमात्र अधिकारिणी हैं—अत्यन्त चतुर, चंचल और विनोदमयी। उनके मन का भाव उनके 'चपल अनियारे' नयनों से भली भाँति व्यंजित होता है। किन्तु वियोग के समय सूरदास ने उन्हें अत्यन्त खिन्न, मलिन, गम्भीर और मूक चित्रित किया है। उनका प्रेम गूढ़ से गूढ़तर होता जाता है; जितनी ही वे चंचल थीं, अब उतनी ही गम्भीर बन जाती हैं। किन्तु राधा एक प्रेमिका, कृष्ण की अर्द्धांगिनी, कृष्ण-ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति के अतिरिक्त कुछ और भी हैं, इसका सूरदास ने कोई उल्लेख नहीं किया।

राधा की भाँति सूरदास की गोपियाँ भी प्रेमिकाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वे निरंतर प्रेम-विकल, प्रेम को परिपूर्ण बनाने में प्रयत्नशील रहती हैं। प्रेम ही उनके अस्तित्व का आदि और अन्त है।

सूरदास ने केवल ललिता और चंद्रावली नामक दो गोपियों में किंचित् व्यक्तिगत विशेषताओं का उल्लेख किया है; अन्य गोपियों में शीला, सुषमा, कामा, वृन्दा, कुमुदा और प्रमदा आदि कुछ नाम ले कर उनका एक जैसा चित्रण हुआ है। इन सब काम-भाव से प्रेरित गोपियों की प्रकृति और चरित्र एक समान हैं। वे सम्मिलित रूप से कृष्ण की प्रिया हैं और यह बात उनके प्रेम की लोकातीत गूढ़ता को व्यंजित करती है। राधा की भाँति उनमें भी कवि ने प्रेमी जीवन के अतिरिक्त व्यापकता का कोई संकेत नहीं किया।

ब्रज की गोपियों के अतिरिक्त रुक्मिणी और कुब्जा का भी माधुर्य-भाव सम्मत चित्रण किया गया है। इन दोनों के चरित्रों में व्यक्तिगत विशेषताओं का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। कुब्जा अत्यन्त हीन, अहम्मन्य और वक्रशील नारी बताई गई है, पर वास्तव में उसका चरित्र कृष्ण की अपार भक्त-वत्सलता का एक उदाहरण है। इसी प्रकार रुक्मिणी का चरित्र भी माधुर्य और दैन्य से मिश्रित हो कर कृष्ण की कृपा का ही प्रमाण उपस्थित करता है।

सूरदास की यशोदा सरल, सहज, स्नेहशील मातृत्व की सच्ची प्रतीक हैं। माता के चरित्र का स्नेहकातर रूप उनमें मूर्तिमान हुआ है। सूरदास ने अनेक यथार्थ परिस्थितियों और विविध घटना-प्रसंगों में यशोदा का स्वाभाविक चित्रांकन करके एक अभूतपूर्व चरित्र का निर्माण किया है। यशोदा का वात्सल्य अनुकरणीय है। केवल रोहिणी और राधा की माता कीर्ति में उनकी किंचित् झलक दिखाई देती है। देवकी का वात्सल्य दैन्य भाव से अत्यधिक प्रभावित है,

क्योंकि वे कृष्ण के अवतारी रूप की ओर अधिक आकृष्ट हैं।

पुरुषों में केवल नंद वात्सल्य भाव से पूर्णतया प्रेरित चित्रित किए गए हैं। उनके चरित्र में भी यशोदा की भाँति सरलता और स्नेह-शीलता की अधिकता है। नंद तथा ब्रज के अन्य सभी गोप अत्यन्त सरल-विश्वासी और नागरों के प्रति संशयपूर्ण और शंकालु हैं।

कृष्ण के गोप-सखा अत्यन्त सरल, चंचल, मोदप्रिय और सद्यः-प्रभावशील हैं। इन सखाओं में सूरदास ने अर्जुन, भोज, सुबल, श्रीदामा, मधुमंगल आदि कुछ का ही नामोल्लेख किया है, किन्तु व्यक्तिगत परिचय केवल श्रीदामा के चरित्र का मिलता है। वह कालियदमन की भूमिका का प्रधान पात्र है। कृष्ण के सखा तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। कृष्ण से अवस्था में बड़े बलराम-जैसे सखा उनसे अनुकम्पामिश्रित स्नेह करते हैं, कृष्ण से छोटे रैता, पैता, मना, मनसुखा आदि कृष्ण के स्नेह-भाजन हैं और उनके सम-वयस्क, समान-शील सखा उनके निरन्तर क्रीड़ा-सहचर हैं और उनकी गोप्य से गोप्य लीला का रहस्य जानते हैं। सूरदास ने भी कृष्ण के गोप्य से गोप्य रहस्य का उद्घाटन किया है। इसीलिए उन्हें कृष्ण-सखा और उनकी भक्ति को सख्य प्रेम कहा गया है। बलराम का चरित्र कृष्ण के सखाओं के साथ ही विशेष रूप में चित्रित हुआ है, यद्यपि वे कृष्ण के बड़े भाई और वास्तव में उनके अलौकिक व्यक्तित्व के एक अंश के प्रतीक हैं। वे कृष्ण के संहार और उद्धार के अतिप्राकृत कार्यों में निरन्तर उनकी सहायता करते हैं, उनके व्यक्तित्व में प्रखरता और कठोरता है और वे तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूरदास ने भागवत के अनुसार उनके सुरापी, उन्मत्त, रौद्र रूप का भी किंचित् उल्लेख

किया है। किंतु प्रधान रूप से वे कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की गूढ़ व्यंजना करते हुए पाए जाते हैं।

कृष्ण-लीला के अन्य पात्रों में वसुदेव, अक्रूर, उद्धव और सुदामा अनुकूल भाव से भक्ति करने वाले तथा कंस आदि प्रतिकूल भाव से कृष्ण का निरंतर ध्यान करने वाले पात्र हैं। वसुदेव भी देवकी के समान-वात्सल्य और दैन्य प्रेरित हैं, परंतु सूर ने उनके चरित्र-चित्रण का कोई विस्तार नहीं किया है। अक्रूर ब्रजवासियों के निकट क्रूर कार्य करने के कारण व्यंग्य और भर्त्सना के लक्ष्य बनाए गए हैं, यद्यपि वे हृदय से कृष्ण-भक्त हैं। सूरदास ने उनके भाव-द्वन्द्व का संक्षिप्त, किंतु मार्मिक चित्रण किया है; कृष्ण का सामीप्य और अंत में आतिथ्य पा कर उन्हें जो सौभाग्य मिला, वह भक्तों के निकट स्पृहणीय है। सूरदास के सुदामा एक अत्यंत सरल, दरिद्र, ग्रामीण ब्राह्मण की प्रतिमूर्ति तथा दैन्य भाव के भक्त हैं। गौण पात्रों में उद्धव का चरित्र भागवत पर आधारित होते हुए भी सूरदास ने बहुत कुछ मौलिक रूप में अंकित किया है। उनमें योग, ज्ञान और कर्म मार्गों के अनुयायी, निर्गुणोपासक, पांडित्याभिमानी, मर्यादावादी व्यक्ति का सम्मिलित रूप अंकित किया गया है। सूरदास ने उनके द्वारा हठयोगियों, अलखवादियों, मायावादियों, वेदांतियों, नैयायिकों, सांख्यवादियों तथा मीमांसकों का एक साथ प्रतिनिधित्व कराया है। किंतु भक्ति से इतर अनेक वादों और विश्वासों का उनके ऊपर आरोप करते हुए भी सूरदास ने उन्हें मूलतः कृष्ण-भक्त ही चित्रित किया है। वे सरलता की पराकाष्ठा में मूर्खता के निकट हैं; कृष्ण के मुँह से उन्हें 'भुरंग सखा' और 'निपट

जोगी जंग' कहला कर उनकी सरलता की व्यंजना की गई है। उन्हें नीरस और कठोर कहा गया है; पर वास्तव में हैं वे भी स्नेहशील, कोमल और आर्द्र; किंतु उनके ये गुण गोपियों के संपर्क में आने पर ही उभरते हैं। उनके इस भाव-परिवर्तन अथवा भाव-विकास के आधार पर सूरदास ने बौद्धिकता पर हार्दिकता, ज्ञान पर भक्ति की विजय चित्रित की है।

कंस के संबंध में पीछे भी कहा गया है कि सूरदास ने कृष्ण-कथा का एक प्रकार से प्रतिनायक मानते हुए भी उसके चरित्र में पौरुषपूर्ण महत्ता का चित्रण न कर उसकी क्रूरता और कठोरता का मूल कारण उसकी आशंका और भय ही बताया है। प्रकृत्या वह भी अत्यंय सरल और विचारहीन है, किंतु उसके ये गुण भाव की विपरीतता के कारण मूढ़ता और अविचार में परिणत हो जाते हैं। कंस के व्यक्तित्व में भय, चिंता, व्यग्रता और आशंका की मानो सजीव मूर्ति उपस्थित होगई है। इन भावों की चरम अनुभूति के फलस्वरूप ही वह उद्धार और निर्वाण का अधिकारी हो जाता है। कृष्ण की जिस कृपा के द्वारा कंस का उद्धार होता है, वही उसके सहयोगियों—पूतना, काग, शटक, तृणावर्त, वत्स, वक, अघ, धेनुक, प्रलंब, केशी, भौम आदि असुरों तथा मुष्टिक, चाणूर कुवलयापीड, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल आदि वैरियों के संहार और उद्धार में क्रियाशील दिखाई गई है। इस प्रकार कृष्ण-लीला के समस्त पात्र विविध भावसंपन्न होते हुए कृष्णमय हैं।

ये पात्र विशेष-विशेष भावों का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व करने के कारण भक्ति-भाव के अंतर्गत प्रतीकात्मक जैसे हो गए हैं। प्रत्येक

पात्र भाव-विशेष से आविष्ट तथा उससे भिन्न भावों से सर्वथा निर्लिप्त है माधुर्य भाव से प्रेम करने वाली गोपियों के सम्बन्ध में तो स्वयं सूरदास ने 'वामन पुराण' की साक्षी दे कर उन्हें श्रुति की ऋचाएँ कहा हैं। श्रीकृष्ण-ब्रह्म उन्हें अपने 'आनंदमय निर्गुण रहित निजरूप' का परिचय देने के लिए नित्य बृन्दावन का दृश्य दिखाते हैं और भविष्य में गोपिका बन कर उनकी आनन्द लीला के सुख-भोग का वरदान देते हैं। किंतु वास्तव में जिस प्रकार श्रुति की ऋचाएँ कृष्ण-ब्रह्म से अभिन्न हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण के आनन्द रूप की अंश-मात्र हैं। इस प्रकार इस बृहद् लीला-काव्य को एक विलक्षण सूक्ष्मता और आध्यात्मिक रूपकता प्राप्त हो गई है और समस्त कृष्ण-कथा एक अनिर्वचनीय रहस्यात्मकता से परिवेष्टित हो गई है।

अलंकार-विधान

सूरदास का काव्य भाव-प्रधान, अतः रसपूर्ण है। उसका आस्वाद ध्वनि और व्यंजना पर आधारित है। व्यापक रूप से उसमें भक्ति-रस व्यंग्य है, किंतु उसके अंतर्गत वात्सल्य स्नेह और माधुर्य रति भाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति में समर्थ हैं। काव्य की रस-मीमांसा की दृष्टि से सूरदास की रचना मौलिक-सामग्री उपस्थित करती है, जिसके आधार पर रस की नवीन विवेचना संभव है। किंतु सूरदास के काव्यानुशीलन से यह तथ्य भी पूर्णतया प्रमाणित होता है कि सुन्दर भावों की अभिव्यंजना-शैली में अनिवार्यतः कलात्मकता और चमत्कार आ जाते हैं। सूरदास ने रूप, वस्तु, क्रिया, गुण और स्वभाव तथा भाव-चित्रण में जड़ प्रकृति, मानवेतर सृष्टि,

मानव-समाज और मानसिक भावों के विशाल जगत् में प्रवेश कर अपनी अनुपम कल्पना-शक्ति, उद्भावना-शक्ति, अंतर्दृष्टि और अनुभव-गांभीर्य का परिचय दिया है। फलतः, उनकी अभिव्यंजना स्वभावतया अत्यन्त अलंकृत और सौष्ठवसपन्न हो गई है। अतः सूरदास का अलंकार-विधान प्रधानतया भावाश्रित है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद में अनेक उत्प्रेक्षाओं, प्रतीपों, रूपकातिशयोक्तियों और संबंधातिशयोक्ति के रूप में सूर के जिस संपन्न कल्पना-विलास का प्रकाशन हुआ है वह मूलतः गोपियों की उस रूपासक्ति पर निर्भर है जिसके कारण वे कहती है, 'सखी, नंद-नंदन का मुख देखो, कैसा सुन्दर लगता है'—

नंद नँदन मुख वेखौ माई।
अँग-अंग छबि मनहुँ उये रवि, ससि अरु समर लजाई।
खंजन, मीन, भृंग, बारिज, मृग पर दृग अति रुचि पाई।
स्नुति-मंडल कुंडल मकराकृत, बिलसत मदन सदाई।
नासा, कीर, कपोत ग्रीव छवि दाड़िम दसन चुराई।
द्वै सारंग-बाहन पर मुरली आई देति दुहाई।
मोहे थिर, चर, बिटप, विहंगम, व्योम विमान थकाई।
कुसुमांजलि बरषत सुर ऊपर, 'सूरदास' बलि जाई॥१२४४॥

भावातिरेक के ही कारण कभी-कभी रूप-चित्रण में सूरदास की कल्पना-शक्ति उपमानों का ऐसा जमघट इकठा कर देती है कि लगता है उनकी भावानुभूति पीछे छूट गई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद में रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग दर्शनीय है —

पीतांबर की सोभा सखि री, मो पै कहौ न जाई ।
सागर सुत पति-आयुध मानो, बन-रिपु-रिपु मैं देत दिखाई ।
जा रिपु पवन, तासु सुत स्वामी आभा कुंडल कोटि दिखाई ।
छाया पति-तनु बदन बिराजत बंधुक अधरनि रहे लजाई ।
नाकी-नायक-बाहन की गति, राजत मुरली सुधुनि बजाई ।
'सूरदास' प्रभु हर-सुत-बाहन ता पख लै रहे सीस चढ़ाई ।
॥२४८६॥

किंतु वास्तव में कल्पना के इस विलक्षण कौतुक की मूल-प्रेरणा पद की प्रथम पंक्ति में बता दी गई है । कृष्ण के सौंदर्य-दर्शन का ही यह परिणाम है कि गोपी उनके रूप की अनिवर्चनीयता की इस प्रकार व्यंजना करती है । भावातिरेक के अतिरिक्त रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग गोपनीय दृश्यों, यथा राधा कृष्ण के रति-विहार के वर्णनों, में भी हुआ है और यहाँ भी कवि की भक्ति-भावना ही उसको ऐसी शैली के प्रयोग की प्रेरणा देती है । युगल छवि के निम्न चित्र को कूट शैली में अंकित करना ही उचित है—

देखे चारि कमल इक साथ ।
कमलहिं कमल गहे लावत है, कमल कमल ही मध्य समात ।
सारँग पर सारँग खेलत है, सारंग ही सौं हँसि-हँसि जात ।
सारँग स्याम और हू सारँग, सारँग सारँग सौं करैं बात ।
....॥१८१३॥

गत्यात्मक रूप-सौंदर्य के चित्रणों में सूरदास का अलंकार-विधान उनकी गतिशील कल्पना-शक्ति का परिचय देता है । नीचे कृष्ण-मिलन

के लिए जाती हुई राधिका के चित्र में गति के साथ साथ उसके हृदय का उल्लास भी व्यंजित है। वास्तव में उल्लास की प्रेरणा से ही कवि की कल्पना के सांग रूपक में इतनी संपन्नता और चित्रोपमता आ सकी है—

मनौं गिरिवर तैं आवति गंगा।
राजति अति रमनीक राधिका, इहिं बिधि अधिक अनूपम अंगा।
गौर-गात-दुति बिमल वारि-निधि, कटि तट त्रिबली तरल तरंगा।
रोमराजि मनु जमुन मिली अध, भँवर परत मानौं भ्रुव भंगा।
भुज जुग पुलिन पास मिलि बैठे, चार चक्कवै उरज उतंगा।
मुख लोचन, पद पानि पंकरुह, गुरु गति, मनहुँ मराल बिहंगा।
मनिगन भूषन रुचिर तीर बर, मध्य-धार मोतिनमय मंगा।
'सूरदास' मनु चली सुरसरी, श्री गुपाल-सागर सुख संगा ॥३०७०॥

कवि के हृदय का यही उल्लास मथुरा नगरी के उल्लास के रूप में प्रकट हुआ है जिसे कवि ने 'सांग रूपक' के मनोहर भूषणों से सज्जित कर दिया है। मथुरा के उल्लास का कारण स्पष्ट है—कृष्ण का आगमन—

श्री मथुरा ऐसी आजु बनी।
जैसें पति कौ आगम सुनि कै, सजति सिंगार धनी।
कोटि मनौ कटि कसी किंकिनी, उपवन बसत सुरंग।
भूषन भवन विचित्र देखियत, सोभित सुंदर अंग।
सुनत स्रवन घरियार घोर धुनि, पाइनि नुपुर बाजत।
अति संभ्रम अंचल, चंचल गति धामनि धुजा बिराजत।

ऊर्ध अटनि पर छत्रनि की छबि, सीसफूल मनौ फूली।
कनक-कलस कुच प्रगट देखियत, आनंद कंचुकि भूली।
विद्रुम-फटिक रचित परदनि पर जालरंध्र की रेख।
मनहुँ तुम्हारे दरसन कारन, भूले नैन-निमेष।
चित दै अवलोकहु नँद-नंदन, पुरी परम रुचि रूप।
'सूरदास' प्रभु कंस मारिकै होहु इहाँ के भूप ॥३६४०॥

मथुरा और मिलनोत्सुक गोपी में यहाँ कोई अंतर नहीं रहा।

वस्तु और रूप चित्रणों में जहाँ कवि की कल्पना अत्यंत अनुरंजक एवं सुषमा संपन्न उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, अतिशयोक्तियों और रूपकों के द्वारा प्रधानतया व्यक्त हुई है, वहाँ अवस्था, गुण, स्वभाव और भावों के चित्रण में तुल्ययोगिता, अर्थांतरन्यास, उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टांत आदि अलंकारों के रूप में उसका विस्तृत अनुभव और उक्ति-वैचित्र्य अत्यंत सरलता के साथ प्रकट हुआ है। इन अलंकारों के रूप में व्यक्त उक्तियों में हमें अनेक लोकोक्तियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ—

उलटी रीति तिहारी ऊधौ सूनै सो ऐसी को है।
अलप बयस अबला अहीर सठ तिनहिं जोग कत सोहै।
बूची खुभी, आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुड़ली पटिया पारौ चाहै, कोढ़ी लावै केसरि।
बहिरी पति सौं मतौ करै तौ, तैसोइ उत्तर पावै।
सो गति होइ सबै ताकी जो, ग्वारिनि जोग सिखावै ॥४१६८॥

उद्धव के गुण, स्वभाव और आचरण का वर्णन करने के लिए सूरदास ने उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टांत, अर्थांतरन्यास, रूपक आदि

के अतिरिक्त मधुकरपरक अन्योक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

यों तो सूरदास द्वारा चित्रित वस्तु, रूप, क्रिया, गुण, स्वभाव सभी भाव-प्रधान हैं और सभी के चित्रण में उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकार-विधान भी भावाश्रित हैं, फिर भी भावों के चित्रण के अलंकार-विधान में विशेष रूप से उनकी कल्पना अत्यंत सूक्ष्म और उनका अनुभव बहुत गहन दिखाई देता है। इस क्षेत्र में उन्होंने अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है। वस्तुतः यह कहना कठिन है कि एक भी ऐसा अलंकार उनकी दृष्टि से छूट गया जिसके द्वारा हार्दिक अनुभूति की व्यंजना सरल और प्रभावशाली हो सकती थी। फिर भी, इन भाव-चित्रों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, संदेह, अपह्नुति, अन्योक्ति, उदाहरण, दृष्टांत और प्रतिवस्तूपमा के सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं। सूर-दास के अलंकार-विधान की यह विशेषता है कि वे एक दूसरे से मिल कर इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं, मानो कवि के कल्पना-जगत् में उप-मानों का ऐसा अक्षय्य कोश है कि उसे उनके प्रयोग के लिए तनिक भी आयास नहीं करना पड़ता। प्रायः अनेक अलंकार एक साथ मिल कर सूरदास के कल्पना-वैभव और योजना-शक्ति का अनुपम परिचय देते हैं। नीचे के एक उदाहरण में अन्योक्ति के अंतर्गत रूपकगर्भित अपह्नुति देखने योग्य है—

मधुकर हम न होहि वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग करत कुसुम-रस केलि।
बारे तैं बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होत सदा हित हानि।

ये बेली बिरहीं बृन्दाबन उरझीं स्याम तमाल।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल।
जोग समीर धीर नहिं डोलति, रूप डार दृढ़ लागीं।
'सूर' पराग न तजति हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागीं ॥४१२६॥

भाषा, शैली और छंद-योजना

भाव और विषय के अनुरूप सूरदास की कल्पना जिस प्रकार कभी सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, मेघ, इंद्रधनुष आदि से संपन्न आकाश-मंडल से, कभी रंग-बिरंगे पुष्प, लता, वृक्ष, नदी, पर्वत, निर्झर, सागर, विविध रंग, रूप, स्वभाव के पशु, पक्षी' कीट आदि से युक्त पृथ्वी मण्डल से, कभी विविध अनुभव, परम्पराओं और प्रथाओं वाले विस्तृत मानव-समाज से और कभी विविध भाव, विविध विचार और कल्पनानुभूति से संकुल मानव-मन के असीम किंतु गूढ़ जगत् से उपयुक्त उपकरण जुटा कर सौंदर्य-चित्र अंकित करती है, उसी प्रकार उनकी भाषा का समृद्ध कोश उन्हें अनायास ही भाव और विषय के अनुकूल शब्द, वाक्यांश और वाक्य भेंट करने के लिए उनकी इच्छा-मात्र की प्रतीक्षा करता है। उनकी शैली सर्वत्र वर्ण्य विषय के अनुकूल रहती है और इस दृष्टि से उसमें मनोहर विविधता पाई जाती है।

एक उनकी वह शिथिल, आंशिक रूप में असमर्थ और असाहित्यिक वर्णनात्मक शैली है जिसमें उन्होंने भागवत के कथा-प्रसंग तथा कथा-पूर्ति के लिए अन्य वर्णनात्मक अंश रचे हैं। इस शैली के द्वारा कवि की प्रवृत्ति का यदि कोई परिचय मिलता है तो संभवतः इतना ही कि सूरदास को नीरस वर्णन और प्रबन्ध की रचना में कोई रुचि नहीं

थी। यह अनुमान भी बहुत असंगत न होगा कि हो सकता है ये अंश सूरदास के रचे हुए न भी हों। इस शैली के लिए चौपई, चौपाई और चौबोला आदि सरल और व्यावहारिक छंदों का प्रयोग किया गया है। किंतु इस छंद-प्रयोग में भी सौष्ठव और परिमार्जन का प्रायः सर्वथा अभाव ही है।

इस शैली से कुछ अधिक साहित्यिक और किंचित् भाषा-सौंदर्य से युक्त वह शैली है जिसमें तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार की शब्दावली का विषयानुसार प्रयोग हुआ है, किंतु जिसमें संगठन के अभाव, वाक्य-रचना की शिथिलता तथा उबाने वाली पुनरावृत्तियों के कारण सौंदर्य और आकर्षण बहुत निम्नकोटि का है। इस शैली में कृष्ण के कनछेदन, अन्नप्राशनादि संस्कार, भोजनादि की विस्तृत सूचियाँ, रास, हिंडोल और वसंत के प्रसंगों के लम्बे-लम्बे वर्णन दिए गए हैं। इस शैली में भी सूरदास के प्रयत्न की शिथिलता व्यंजित होती है और साथ ही इससे उनके चित्त की अनवधानता की अवस्था तथा संभवतः आनन्दातिरेक की विचारशून्य स्थिति की भी सूचना मिलती है। इस शैली में भी चौपई, चौपाई, चौबोला और उनके आधार पर रचे हुए गाने योग्य नवीन छंदों का व्यवहार हुआ है। गेय पद भी अपवाद-स्वरूप प्रयुक्त हुए हैं, पर बहुत कम। इस सम्बन्ध में सूरदास की छंद-योजना का एक उदाहरण रोचक होगा।

दोहा छंद है—

या गोकुल के चौहटैं, हरि सँग खेलैं फाग।
डरति न गुरुजन लाज कौं, मौंहन कैं अनुराग॥

किंतु इसे सूरदास ने इस प्रकार गेय बना दिया है—

या गोकुल के चौहटैं, रंगभीजी ग्वालिनि ।
हरि सँग खेलैं फाग, नैन सलोन री रँगराँची ग्वालिनि ।
डरति न गुरुजन लाज कौ, रँगभीजी ग्वालिनि ।
मोहन कैं अनुराग, नैन सलोन री रँगराँची ।
ग्वालिनि ।।३४८५।।

सूरदास ने वर्णनात्मक शैली में कुछ कृष्ण-लीला संबंधी कथानक भी लिखे हैं, जैसे—कालिय-दमन लीला, गोवर्द्धन-धारण लीला, दानलीला, रासलीला, मानलीला और भँवरगीत, जिनमें भाषा का रूप अधिक सुसंस्कृत और परिमार्जित है तथा प्रबंध-संगठन व्यवस्थित और सुसंहत । भाषा आवश्यकतानुसार समलंकृत, छंद वर्णन-प्रसंग के अनुकूल विविध और आकर्षक तथा शैली प्रसंगानुसार कभी धारा-प्रवाह, कभी नाटकीय, कभी अभिधामूलक प्रसन्न और कभी लाक्षणिकतायुक्त व्यंग्य है । छंदों की योजना में भी कवि ने मौलिकता का परिचय दिया है । चौपाई आदि वर्णनात्मक छंदों के अतिरिक्त छंदों के मिश्रण से उन्होंने नवीन छंदों की भी रचना की है । प्रारम्भ में चांद्रायण के साथ रोला-दोहा का मिश्रित छंद है—

सुनि तमचुर कौ सोर, घोष की बागरी ।
नवसत साजि सिंगार चलीं नव नागरी ।
नवसत साजि सिंगार अंग पाटंबर सोहैं ।
इक तैं एक अनूप रूप त्रिभुवन मन मोहैं ।

इंदा बिंदा राधिका, स्यामा कामा नारि।
ललिता अरु चंद्रावली, सखिनि मध्य सुकुमारि।
सबै ब्रजनागरी....॥२२६६॥

इन कथा-वर्णन के प्रसंगों में प्रायः सूरदास की सरल, निष्कपट ग्रामीण प्रकृति प्रकट हुई है। वर्णनात्मक शैली में उपर्युक्त कथानक केवल पुनरावृत्ति के रूप में रचे गए हैं। इस शैली से अधिक रोचकता इन कथानकों के गेय रूप में है और उन्हीं में सूरदास की गीति और प्रबन्ध के अप्रतिम सामंजस्य की प्रतिभा दिखाई देती है। घटनाप्रधान होने के कारण इन कथा-प्रसंगों की भाषा सामान्यतया तद्भवप्रधान, सरल, स्पष्ट और प्रवाहपूर्ण है; संभाषण स्वाभाविक, नाटकीय और व्यंजक हैं तथा संपूर्ण प्रसंगों की शैली में एक आकर्षक ऋजुता और आडम्बरहीनता है; अलंकारों का प्रयोग केवल स्पष्टीकरण के लिए किया गया है।

सूरदास के गेय पदों में प्रसांगानुसार अनेक शैलियों का व्यवहार हुआ है। नवम स्कंध में राम के चरित की सामान्य रूपरेखा जिन गेय पदों में दी गई है वे अधिकांश में सरल, आडंबरहीन, किंतु साथ ही विषय की महत्ता की व्यंजना करने वाली, अवसरानुकूल तत्सम और तद्भव शब्दावली से युक्त भाषा-शैली में रचे गए हैं। इन पदों में कथानक वाले गेय पदों की अपेक्षा रसात्मकता प्रायः अधिक है।

कृष्ण की बाल्य काल की विशिष्ट क्रीड़ाओं के गेयपदों की भाषा तद्भवप्रधान, स्वाभाविक और परिमार्जित है तथा शैली विषयानुकूल चपल, मोहक, सुगम और आडंबरहीन है। इसके द्वारा कवि की बालसुलभ

चपलता, मुग्धता, सरलता और स्नेहशीलता का परिचय मिलता है। किशोर काल की क्रीड़ाओं के वर्णन में भी भाषा तद्भवप्रधान और व्यावहारिक है, किंतु पारमार्जन के साथ उनमें अलंकारिता अपेक्षाकृत अधिक है। शैली में सरलता के स्थान पर चतुरता और बंकता तथा सुगमता के स्थान पर प्रायः वचनवक्रता एवं व्यंग्य की प्रधानता है। यह शैली कवि की प्रौढ़ अनुभूति, अति संवेदनशीलता और अकृत्रिम ऐंद्रियता को व्यक्त करती है। इसी विषय के कुछ पदों में ग्रामीणता और अश्लीलता के उदाहरण भी मिल सकते हैं और वे कवि की उत्कट भावप्रवणता तथा आडंबरहीनता के व्यंजक कहे जा सकते हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से सबसे अधिक सौष्ठव, अनुरंजकता तथा संपन्नता 'सूरसागर' के उन पदों में है जिनमें उन्होंने रूप-चित्रण किया है। इन पदों की पदावली समास-युक्त और अत्यंत अलंकृत है। सूर की भाषा का सबसे अधिक सुसंस्कृत, परिमार्जित और साहित्यक सौंदर्य से युक्त रूप इन्हीं में मिलता है। इन पदों में सूरदास की उच्च-तम कल्पना और उत्कृष्ट भावना का भाषा के समस्त वैभव के साथ सामंजस्य हुआ है। ये पद उनके प्रौढ़, सजग, संपन्न, ललित एवं मधुर व्यक्तित्व के परिचयाक हैं।

रूप-चित्रण वाले गेय पदों के साथ ही 'सूरसागर' के अगणित पद संबद्ध हैं जिनमें कवि ने उस रूप के अनिर्वचनीय, किंतु सर्वाधिक-संप-न्नता के साथ वर्णित सौंदर्य का प्रभाव दिखलाया है। इन पदों को 'नैननसमय' और 'अँखियाँ-समय' आदि शीर्षकों में एकत्र भी किया गया है। इन पदों की भाषा में भी शब्दों के ध्वनि-साम्य के आधार पर

पद-मैत्री मिलती है, पर भाषा तत्समप्रधान न हो कर तत्सम-तद्भव का सुन्दर साहित्यिक सामंजस्य उपस्थित करती है। भाषा में शाब्दिक सौंदर्य के स्थान पर अर्थ-सौंदर्य अधिक है, तथा अलंकारों में कल्पना के वैभव के स्थान पर अनुभव का विस्तार और अनुभूति की गहनता प्रधान है। इनमें हमें कवि के आंतरिक व्यक्तित्व का अधिक निकटता से परिचय मिलता है। उसकी गंभीरता, गूढ़ता, तल्लीनता तथा भक्ति-भावनापूर्ण रस-मग्नता इन पदों में विशेष रूप से व्यक्त हुई है।

भाव-चित्रण संबंधी पद अनेक प्रकार के हैं। मुख्यतया दैन्य, वात्सल्य और माधुर्य के अंतर से उनमें भाषा और शैली का अंतर भी देखा जा सकता है। जिन पदों में दैन्य भाव का चित्रण हुआ है उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल, स्पष्ट, अनलंकृत और आवश्यकतानुसार तत्समप्रधान कही जा सकती है। इन पदों की शैली में दृढ़ता, आग्रह, गंभीरता और स्पष्टवादिता के साथ-साथ एक प्रकार के निग्रह और दमन का भाव भी पाया जाता है। वात्सल्य भाव को व्यक्त करने वाले पदों में तत्सम और समस्त पदावली का प्रयोग अपेक्षाकृत न्यून है। अलंकारों के प्रयोग में स्वाभाविकता तथा शैली में गंभीरता के साथ-साथ एक प्रकार की स्वच्छन्दता और स्वाभाविक उत्साह पाया जाता है। माधुर्य भाव के पदों की भाषा कुछ और सरल किन्तु साथ ही कहीं-कहीं अधिक व्यंजनापूर्ण हो गई है। सूक्ष्म, गूढ़, तीव्र और सघन भावानुभूति इन पदों में ही सब से अधिक पाई जाती है, फलतः, कवि का काव्य-चातुर्य इन्हीं में उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ। इन पदों की शैली अत्यंय प्रौढ़, मार्मिक और व्यंजक है। सूरदास की भावप्रवणता, हार्दिक कोमलता और

स्वभाव की सरलता के साथ-साथ उनकी वचन-चातुरी, विचारशीलता, तार्किकता, रस-विदग्धता और व्यंग्य-विनोदशीलता इन्हीं पदों में, विशेष रूप से विरह-वर्णन सम्बन्धी पदों में, सब से अधिक व्यक्त हुई है।

सूरदास के ये समस्त गेय पद उनके अनुपम भाषाधिकार का परिचय देते हैं, जैसे उनका शब्द-कोश असीम और उनकी अर्थ-व्यंजना अपरिमित हो। ध्वनि और व्यंजना का उनकी काव्य-कला में अलंकार, चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य से कहीं अधिक महत्त्व है। उनके काव्य में कितने ही प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का स्वाभाविक ढंग से प्रयोग हुआ है तथा उनकी कितनी ही उक्तियाँ ऐसी सरस, व्यंजक, मार्मिक और प्रभावशाली हैं कि उनका बड़ी सर-लता से कहावतों और मुहावरों के रूप में प्रयोग हो सकता है। शब्दों के सम्पन्न वैभव में कल्पना की उत्कृष्ट योजना तथा शब्दों के अर्थ-विस्तार में भावों की सघनता सूरदास में समान रूप से पाई जाती है। उनकी भाषा भावों की अनुचरी, उनके भाव भाषा के प्राण तथा उनकी शैली उनके व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से प्रकाशित करने वाली है।

सूरदास की भाषा-शैली की प्रभावशीलता में उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों का भी कम योग नहीं है। वास्तव में महान् कवियों की रचनाओं में जिस प्रकार भाषा भाव की अनुगामिनी होती है उसी प्रकार उनके छंद भी भाव के अनुकूल ही प्रयुक्त होते हैं। छंदों की लय, गति, विस्तार और आकार यदि उनमें व्यक्त भावों के अनुकूल हों, तभी काव्य सफल होता है। सूरदास ने इसी दृष्टि से छंदों का निर्वाचन किया

है। आकार और विस्तार की दृष्टि से 'सूरसागर' का सब से छोटा छंद चंद्र है जिसमें दस और सात के विराम से सत्रह मात्राएँ होती हैं और सबसे लंबा छंद हरिप्रिया है जिसमें बारह, बारह, बारह और दस के विराम से छयालीस मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार विस्तार के क्रम से सूरदास के द्वारा प्रयुक्त छंद इस प्रकार हैं—चंद्र, भानु, कुंडल, सुखदा, राधिका, उपमान, हीर, तोमर, शोभन, रूपमाला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, हरिपद, सार, लावनी, वीर, समान सवैया, मत्त सवैया, हंसाल और हरिप्रिया। लगभग इन सभी छंदों को सूरदास ने गेय पदों में प्रयुक्त किया है। अतः लिखित रूप में इनकी मात्रा-गणना में न्यूनता-अधिकता मिल सकती है, किन्तु पठित रूप में वे प्रायः निर्दोष हैं। सूरदास ने वार्णिक छंद नहीं लिखे, मुक्तक मनहरण के कुछ उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं। सूर के गेय पदों की सुगेयता की विवेचना संगीत के विशेषज्ञों का विषय है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भजनों की संगीत-प्रणाली में सूर के पदों का स्थान किसी के पीछे नहीं है। उनके अनेक पद संगीतज्ञों में भी उसी प्रकार प्रचलित हैं जिस प्रकार कवि-मंडलियों में। पदों में प्रयुक्त टेक अथवा स्थाई के रूप में प्रयुक्त प्रथम पंक्ति ही इतनी व्यंजक और प्रभावशाली होती है कि उसका भाव पद के अंत तक बराबर गूँजता रहता है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में सूर के सौन्दर्य-बोध तथा उनकी रचना के अभिव्यक्ति पक्ष का जो विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सूरदास का मानस उस सौन्दर्य-भावना, संवेदनशीलता और जीवनव्यापी

अनुभव से सम्पन्न है जिसकी किसी भी महान् कवि में अपेक्षा की जा सकती है। साथ ही, भाषा पर उनका अप्रतिम अधिकार है, शब्द-शक्तियों की उन्हें सच्ची परख है, उनकी अभिव्यंजना में प्रभूत अनुरंजकता है तथा उनमें अद्भुत वाक्-चातुर्य और वचन-वक्रता है। काव्य-शास्त्र तथा काव्य-परम्परा का उन्हें पूर्ण परिज्ञान है। छंद और अलंकार का स्वेच्छानुकूल प्रयोग करने में वे अत्यंत निपुण है। निश्चय ही वे एक बहुश्रुत कवि हैं और कवि-कर्म के निर्वाह के प्रति उनमें पूर्ण सजगता हैं। परंतु उन्होंने अपनी संपूर्ण प्रतिभा और विद्वत्ता सर्वात्म भाव से अपने इष्ट देव में समर्पित कर दी थी। अतः उसकी अभिव्यक्ति जिस काव्य के रूप में हुई वह स्वभावतया उनकी प्रेम-भक्ति का ही स्वच्छन्द प्रकाशन है। उनकी काव्य-कला अलंकार-योजना, वर्णन-वैचित्र्य, भाव-व्यंजना, छंद-विधान, सभी दृष्टियों से भावश्रित है और भक्ति-भावना से ही परिसीमित है।

८

उपसंहार

सूरदास की जीवनी के संबंध में हमें बहुत कम विवरण मिले हैं और जो मिले भी हैं, वे कितने प्रामाणिक और वास्तविक हैं, यह कहना कठिन है। किन्तु हम भले ही उनके माता-पिता, निवास-प्रवास और पारिवारिक संबंधियों आदि के नाम और विवरण न जानें, भले ही हमें निर्णयात्मक रूप से यह न विदित हो कि वे कब पैदा हुए, कहाँ बड़े हुए और उन्होंने कहाँ शिक्षा-दीक्षा पाई, उन्होंने किस प्रकार जीवन-निर्वाह किया तथा उनकी सांसारिक परिस्थितियाँ क्या थीं, किन्तु उनके काव्य के अध्ययन के पश्चात् हम यह नहीं कह सकते कि हम उनसे पूर्णतया परिचित नहीं हो सके। वस्तुतः उनका काव्य उनकी सच्ची जीवनी है। इसके अतिरिक्त, उनके जीवन-वृत्त का कम से कम स्वयं उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। हम कहते हैं कि सूर ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं कहा, किन्तु वास्तविक यह है कि सूरदास ने जितना अधिक और जैसी सफलता के साथ अपने विषय में कहा है उनती प्रचुरता, स्पष्टता, निश्छलता और आत्मीयता तथा वैसी परिपूर्णता के साथ कम से कम हमारे किसी अन्य कवि ने नहीं कह पाया। उनके काव्य की आत्माभिव्यक्ति स्पृहणीय है।

सूरदास ने किसी महाकाव्य का प्रणयन नहीं किया, जीवनादर्श

के रूप में उन्होंने किसी महिम चरित का निर्माण नहीं किया तथा उन्होंने जीवन के किन्हीं महिमाशाली और गौरवपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं किया; फिर भी उनका काव्य और उसमें व्यक्त उनका व्यक्तित्व श्रेष्ठता में किसी से हीन नहीं है। उन्होंने जीवन को सार्थक और आनंदमय बनाने के लिए सौन्दर्य और रस का जो उद्घाटन किया वह किसी जीवनादर्श से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सच तो यह है कि हमारे जीवन से आदर्श देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, किन्तु जीवन का रस और सौंदर्य शाश्वत, सार्वजनीन और सार्वदेशिक है। निश्चय ही सूर के सामने जीवन के एक मूल-भूत सिद्धांत के अतिरिक्त अन्य सब महान् सिद्धांत व्यर्थ और सारहीन थे। उनके सम्मुख एकमात्र सिद्धांत था एकांत हरि-भक्ति और एकमात्र आदर्श था सर्वात्म-समर्पण। उनका समस्त काव्य-प्रयत्न इसी सिद्धांत के आध्यात्मिक प्रकाशन तथा इसी आदर्श की पूर्ण प्राप्ति का मान-सिक अथवा आध्यात्मिक उद्योग-मात्र है। रस और सौन्दर्य का जैसा श्रेष्ठ प्रतीक उन्होंने निर्मित किया, वैसा संभवतः विश्व के काव्य में दुर्लभ ही है और उस महान् सौन्दर्य की उपलब्धि का जो उपाय उन्होंने सोदाहरण उपस्थित किया वह उस समय के लिए वास्तव में एकमात्र उपाय कहा जा सकता है।

मध्य युग के जीवन में भगवद्-भक्ति के अतिरिक्त और कौन-सा उच्च जीवनादर्श था? निश्चय ही मध्य युग का मनुष्य अत्यंत भाव-प्रवण और सहज प्रभावशील था। ऐसे मनुष्य के लिए विचारों की गूढ़-गंभीर शृंखला से युक्त गौरवपूर्ण दार्शनिक और सामाजिक सिद्धांत

कहाँ तक उपयुक्त थे ? उस समय राम-राज्य की स्थापना के लिए क्रियाशील चेतना जगाना कहाँ संभव था ? राम-राज्य का गुणानुवाद-मात्र करने से भक्ति के उस भाव के अतिरिक्त और कौन-सा लाभ हो सकता था जिसमें हमारी आनंदिनी वृत्तियाँ बरबस कुण्ठित रह जाती हैं और हमारे मन आतंक से आक्रांत तथा हमारे आचरण शिष्टाचार के आडंबरों से आच्छादित हो जाते हैं ? सूर को किंकर-मात्र बने रह कर राजा के गुणानुवाद करने में आत्मिक सुख नहीं मिल सका। राजाओं के कृत्रिम ऐश्वर्य से उन्हें हार्दिक अरुचि थी। श्रीकृष्ण के राजसी ऐश्वर्य की ओर उन्होंने बहुत कम ध्यान दिया। न तो उससे कुछ लाभ था और न उस ओर उनकी प्रवृत्ति थी। सूर का व्यक्तित्व मध्य युग के मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रतीक है। यही कारण है कि उनकी लोकप्रियता अनुपम है। उनके पदों में उनके पाठकों और श्रोताओं को आत्मीय भाव के साथ-साथ ऐसा मोहक आदर्श मिलता है जिसकी प्राप्ति के लिए उन्हें विशेष आयास नहीं करना पड़ता, उनकी प्रवृत्तियाँ स्वयं उन्हें उस सौन्दर्य और माधुर्य की ओर प्रेरित करती हैं। अतः सूर का काव्य वैयक्तिक होते हुए भी महान् उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हुआ है। युग के मनुष्य ने उसमें अपना भव्यतम रूप पाया है।

सूरदास को परम भगवदीय और महान् आत्मा मानते हुए भी उन पर अधिक शृंगारिकता और अश्लीलता तक के आरोप लगाए गए हैं। किंतु क्या इन दो विरोधी बातों को एक क्षण के लिए भी मानना युक्तिसंगत है ? वास्तव में भक्ति के विवेचकों ने बार-बार समझाया है

कि लौकिक अर्थ में जो भाव निकृष्टतम है वही भक्ति पक्ष में सर्वोत्कृष्ट हो जाता है। कारण स्पष्ट है। हमारे निकृष्टतम भाव ही हमारे सब से बड़े शत्रु होते हैं और हमारे सब से प्रबल शत्रु ही जब हमारे सब से बड़े सहायक हो जाएँ, तब उन शत्रुओं का मूल्य सहसा उतना ही बढ़ जाता है जितना पहले कम था। मध्य युग के संतों ने कामिनी कांचन की भर्त्सना करते-करते अपना गला फाड़ लिया, किन्तु उनका चिल्लाना कितना कारगर हुआ यह संदिग्ध है। सूरदास ने उन्हीं कामिनी-कांचन को सर्वात्म भाव से उस महान् सत्य में होम देने का व्यावहारिक उपाय बताया जो सत्य होने के साथ ही सुन्दर है और वास्तव में वह सुन्दर है इसी कारण सत्य है। यदि अन्य संत भक्तों के कामिनी-कांचन को त्यागने के उपदेश बहुत कम सुने जा सके तो यह भी अधिक क्षोभ का कारण न होना चाहिए कि सूर द्वारा उद्-घाटित सत्य को कुछ लोगों ने उस रूप में ग्रहण नहीं कर पाया। सूर-दास ने राधा-कृष्ण के प्रेम की सम्पूर्ण परिस्थितियों का, तथाकथित अश्लील परिस्थतियों का भी, चित्रण अत्यन्त पूज्य भाव से किया है। उनका उद्देश्य रस का संपूर्ण रूप में प्रकाशन-मात्र है। उनके भाव की उदात्तता असाधारण रूप से सूक्ष्म कही जा सकती है, किन्तु है वह निःसंदेह अत्यन्त स्वस्थ और सजग भक्ति-भावना से ही प्रेरित। उस पर मानसिक रुग्णता, अतृप्त वासना-लिप्सा आदि का आरोप करना उचित नहीं है। उसकी सच्ची समीक्षा ऐतिहासिक संदर्भ में ही की जा सकती है। इस संबंध में मध्य युग के मनुष्य की प्रवृत्ति को दृष्टि-पथ में रखना नितान्त आवश्यक है।

कवि सूरदास तथा भक्त सूरदास में कौन अधिक महद् है इस प्रश्न का सहसा उत्तर देना कठिन है। निश्चय ही यदि सूरदास महान् कवि न होते तो कृष्ण-भक्ति की उस भाव-सम्पत्ति को सँभालने में इतने सफल नहीं हो सकते थे जिसे समझने में भी बड़े-बड़े ज्ञानी भ्रमित हो जाते हैं और अपने पांडित्य से आलोचकों को आंतकित करके भी जब कृतकार्य नहीं होते तो क्षमा-याचनापूर्ण दृष्टिकोण प्रकट करने लगते हैं। निश्चय ही उस भाव-सम्पत्ति को काव्य-कला के सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ सँजोना तलवार की धार पर चलना है! सूरदास इस परीक्षा में कितने सफल हुए हैं यह इसी से सिद्ध है कि उनके प्रति जन-मानस में जो पूज्य भाव है वह बहुत थोड़े भक्तों को प्राप्त हुआ है। कृष्ण तथा राधा-कृष्ण की जो कल्पना और भावना आज भी लोक मन में समाई हुई है उसके निर्माण में सूर का कितना हाथ है प्रायः इसे भुला दिया जाता है। कृष्ण-भक्ति को सूर के काव्य का आश्रय न मिला होता तो उसके प्रचार-प्रसार और उसकी भावोत्कृष्टता की सीमाएँ कितनी संकुचित रह जातीं इसका थोड़ा-बहुत अनुमान किया जा सकता है। भक्ति के सिद्धान्त-निरूपण तथा प्रसार-विस्तार में भले ही प्रत्यक्ष रूप में केवल पुष्टिमार्ग ने ही सूरदास की वाणी का उपयोग किया हो, परन्तु अन्य कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय भी उनके कम ऋणी नहीं हैं। वस्तुतः सूरदास कृष्ण-भक्ति के प्रतिनिधि कवि हैं, उन्हें किसी एक सम्प्रदाय में सीमित करना उनके साथ अन्याय है।

और, जिस प्रकार सूरदास की रचना कृष्ण-भक्ति की पावन भागी-रथी है, उसी प्रकार वह हिंदी के कृष्ण-काव्य और परवर्ती रीति या

शृंगार काव्य की अक्षय आकर भी है। अपनी-अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार कविगण उससे निरंतर लाभान्वित होते आए हैं। हिंदी का परवर्ती काव्य सूर का कितना ऋणी है प्रायः इसका हम सही अनुमान नहीं कर पाते।

परंतु परवर्ती काव्य सूर की काव्य-सम्पत्ति का उपजीवी होते हुए भी उतना उच्च क्यों नहीं हो सका, इसका बहुत बड़ा कारण यही है कि परवर्ती कवियों की अनुभूति और अभिव्यक्ति में बहुत अधिक अंतर शेष रह गया था, जब कि सूर में ये दोनों पक्ष पूर्ण रूप में एकाकार हो गए थे। यही कारण है कि भक्ति-भाव, काव्यानंद, काव्य-कला और जीवन के महिमाशाली नहीं, तो कम से के उच्च व्यावहारिक एवं सरस आदर्श एकमेव हो कर सूर के काव्य को जो उत्कृष्टता प्रदान करते हैं उसकी तुलना में कोई अन्य भक्त और कवि नहीं ठहर सकता। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व में कवित्व, भक्ति-भावना तथा जीवन-व्यापार, सभी एकरस होकर घुल गए है। हम उन्हें अपना सबसे सच्चा भक्त और सबसे श्रेष्ठ कवि कह सकते है।

———